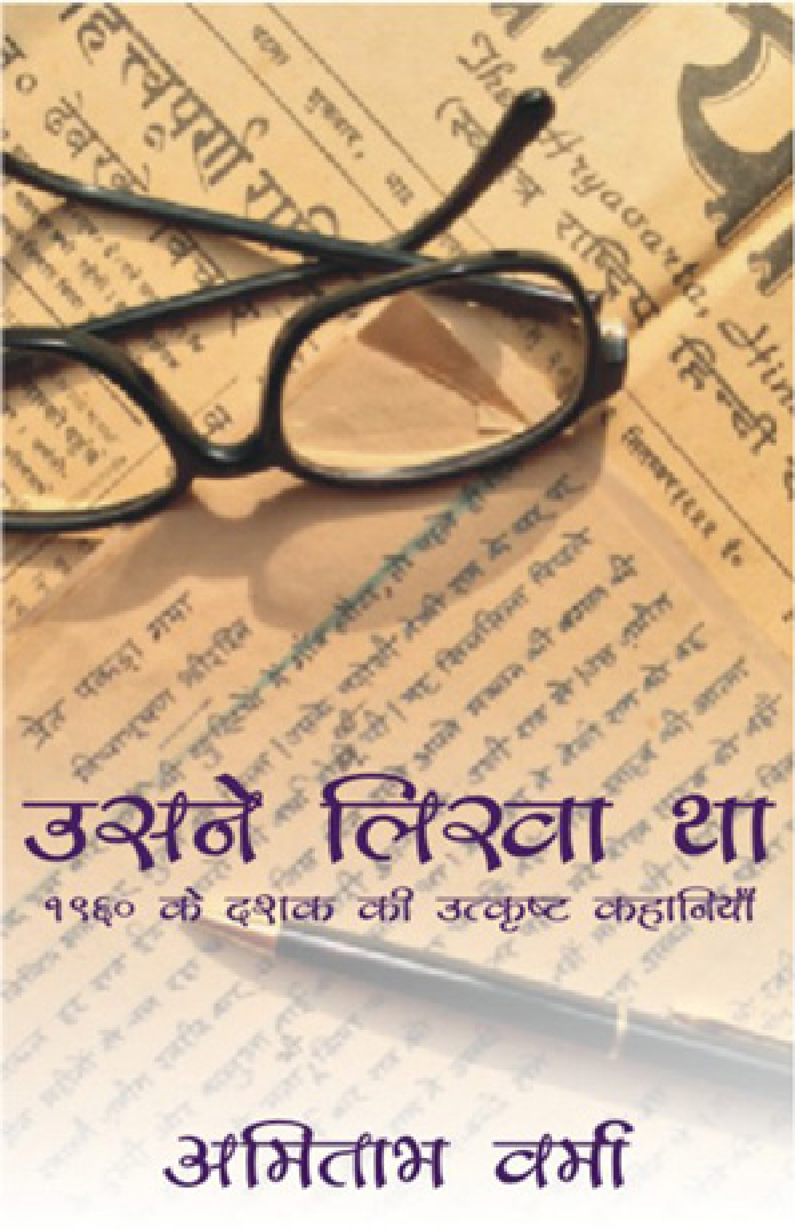

उसने लिखा था
१९६० के दशक की उत्कृष्ट कहानियाँ
अमिताभ वर्मा

उसने लिखा था

1960 के दशक की उत्कृष्ट कहानियाँ

अमिताभ वर्मा

प्रकाशक : पुस्तक बाज़ार.कॉम

+++

Usne Likha Tha

An anthology of stories by Amitabh Varma

D42, East of Kailash, New Delhi 110065

E-mail : amitabh.varma@gmail.com

2017

Publisher : PustakBazaar.com

info@pustakbazar.com

ISBN : 978-1-988658-08-7

Price : $3.00 Cdn

समर्पण

विश्वसनीय मार्गदर्शक, प्रबल आलोचक, उत्साही मित्र तथा
स्नेहशील पिता
विद्याभूषण ’श्रीरश्मि’
को समर्पित

निवेदन

’उसने लिखा था’ विद्याभूषण ’श्रीरश्मि’ की दस श्रेष्ठ कहानियों का संकलन है। ’श्रीरश्मि’ हिन्दी अकादमी द्वारा पुरस्कृत लेखक थे। यह पुरस्कार उन्हें स्वयं उनके जीवन पर आधारित उपन्यास, ’दिव्यधाम’, के लिए 1987 में मिला था। ’दिव्यधाम’ में उन्होंने अपने मृत शरीर का वर्णन भी किया है। 2016 में उनकी मृत्यु के समय उनका पार्थिव शरीर उसी मुद्रा में था जो उन्होंने उनतीस वर्ष पहले ही चित्रित कर दी थी!

’श्रीरश्मि’ में आदर्शवाद और स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा था। भला कौन पिता स्नेहशील, समर्थ पुत्रों के बावजूद अपने अंतिम इलाज के लिए स्वयं चेक लिखता है? पर उन्होंने ऐसा ही किया था। उनका स्वाभिमान और आदर्श उन्हें लेखकों के गुट में शामिल होने से रोकता रहा। वे तटस्थ लेखक ही बने रहे।

’श्रीरश्मि’ की कहानियों में भारत की मिट्टी का सोंधापन है, तो सामाजिक विषमता पर पैने कटाक्ष भी हैं। इनमें पारिवारिक सम्बन्धों का माधुर्य है, तो सम्मानित जीवन जीने में विफलता की व्यथा भी है। इनकी घटनाएँ, इनके पात्र काल्पनिक नहीं, वास्तविक, हमारे बीच के, लगते हैं। यही इन कहानियों की शक्ति है।

'श्रीरश्मि' लीक से अलग हट कर लिखते थे। उनकी कहानियों का आरम्भ सीधे घटनास्थल पर होता है, इधर-उधर समय नष्ट नहीं होता। कहानियों का अंत झकझोर देता है, सोचने पर विवश कर देता है। इन कहानियों का वाक्य-विन्यास परम्परागत नहीं, आम बोलचाल के लहजे में है। शब्दों की प्रतीकात्मकता और वाक्यों में छुपे व्यंग्य-वाण इन कहानियों को सहज ही उत्कृष्टता की श्रेणी में पहुँचाते हैं।

इन कहानियों को पढ़ कर विशेष आनन्द आता है - इनका मूल कथानक आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना इनके रचनाकाल में था, साथ ही ये 1960 के दशक में भारतीय परिवेश से अवगत भी कराती हैं। ये कहानियाँ लोकप्रिय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। दुर्भाग्यवश वे पत्रिकाएँ अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध नहीं। आज के सुधी पाठक इनका रसास्वादन करने से वंचित न रह जायें, इस प्रकाशन का यही उद्देश्य है।

आपकी प्रतिक्रिया के लिए आभारी रहूँगा।

अमिताभ वर्मा

amitabh.varma@gmail.com

आभार

यह कहानी-संग्रह शीर्षक में उल्लिखित ’उस’ को समर्पित है - ’श्रीरश्मि’ जी को। हमारा सम्बन्ध आलोचक तथा लेखक का भी था। मैं उनकी रचनाओं की प्रबल आलोचना करता था, और वे मेरी रचनाओं की। मेरी कहानी ’डर’ को पढ़ कर उन्होंने कहा था, “इतनी कठिन भाषा क्यों लिखते हो?” ’डर’ ’साहित्य कुंज’ के मई 2017 अंक में छपी थी। इसी तरह, ’उसने कहा था’ में सम्मिलित ’मुँह चिढ़ाता आईना’ में बिहार में प्रयुक्त बोलचाल की भाषा का इस्तेमाल मेरी आलोचना के फलस्वरूप हुआ था। उनके जाने से मैंने अपना सहृदय आलोचक खो दिया है।

’श्रीरश्मि’ जी की सौ से अधिक कहानियों में से दस को चुनना आसान न था। मेरी पत्नी रानी ने अपनी बेबाक टिप्पणियों तथा विवेचना से इनके चयन में महत्वपूर्ण सहयोग दिया। उनका आभारी हूँ।

वरिष्ठ सहकर्मी श्री नरेन्द्र नाथ उपाध्याय ने उनके और मेरे अवकाश ग्रहण करने के वर्षों बाद, अब भी, केवल सम्बन्ध ही नहीं बनाये रखा है; वे ’श्रीरश्मि’ जी की रचनाओं की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण मीमांसा भी करते हैं। उन्हें सादर नमन।

श्री सुमन कुमार घई से मैं कभी मिला नहीं - बस, उनका चित्र देखा है और उनसे पत्र व्यवहार किया है। किन्तु, इतने से ही अत्यन्त प्रभावित हूँ। जिस लगन के साथ वे संपादन करते हैं, वह अत्यन्त सराहनीय है। उन्हें साधुवाद!

सादर,

भवदीय,

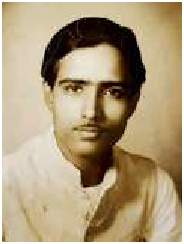
अमिताभ वर्मा

संकलनकर्ता



विद्याभूषण ’श्रीरश्मि’ के कनिष्ठ पुत्र, अमिताभ वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रौद्योगिक संस्थान से खनन अभियांत्रिकी में स्नातक हैं। उन्होंने निजी क्षेत्र की विभिन्न कम्पनियों में पैंतीस वर्ष कार्यरत रहने के बाद 2016 में अवकाश ग्रहण किया। वे आकाशवाणी से बतौर समाचार सम्पादक और समाचार वाचक सम्बद्ध रहे हैं। वे सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के टेलिविज़न तथा रेडियो कार्यक्रमों में अभिनय तथा पटकथा लेखन द्वारा योगदान करते रहे है। उनके तेरह-तेरह एपिसोड के दो धारावाहिक नाटक - बाल-श्रम के विरुद्ध ’अब ऐसी ही सुबह होगी’ तथा कन्या-संरक्षण पर ’नन्ही परी’ - आकाशवाणी पर प्रसारित हुए। उनकी रचनाओं का संकलन, ’कृतिसंग्रह’, बहुत सराहा गया। उन्होंने अचल रंगस्वामी के साथ एक अंग्रेज़ी पुस्तक, ’स्टेइंग इन्सपायर्ड’, भी लिखी है।

विद्याभूषण ’श्रीरश्मि’ – परिचय



विद्याभूषण ’श्रीरश्मि’ (11 दिसम्बर 1930 - 25 अगस्त 2016) का वास्तविक नाम विद्याभूषण वर्मा था। उनके बाल्यकाल में ही उनकी माता जगत् रानी देवी का स्वर्गवास हो गया। उनके पिता कामता प्रसाद आर्यसमाजी विचारधारा के थे। उन्होंने एक विधवा स्त्री से पुनर्विवाह कर लिया। विमाता के दुर्व्यवहार से त्रस्त ’श्रीरश्मि’ मैट्रिक का परिणाम घोषित होने से पहले ही बिहटा छोड़ दिल्ली चले गये। वे मात्र 16 वर्ष की वय में वहाँ ’दैनिक विश्वमित्र’ समाचारपत्र के सम्पादकीय विभाग में नौकरी करने लगे। वे रात में काम करते और दिन में पढ़ते। अल्प वेतन से फ़ीस के पैसे बचा-बचा कर उन्होंने विशारद, इंटरमीडियेट, साहित्यरत्न, बी. ए. तथा एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की।

’श्रीरश्मि’ ने ’दैनिक विश्वमित्र’ के अतिरिक्त ’दैनिक राष्ट्रवाणी’, ’दैनिक नवीन भारत’, साप्ताहिक ’उजाला’, साप्ताहिक ’फ़िल्मी दुनिया’ तथा मासिक ’नवनीत’ के सम्पादन में भी सहयोग दिया। वे 1959 से भारतीय सूचना सेवा से सम्बद्ध हो गये।

’श्रीरश्मि’ की पत्नी, गीता, स्वामी विवेकानन्द के कुल से

सम्बन्धित थीं। पैंतीस वर्ष के सुखद वैवाहिक जीवन के बाद, 1986 में गीता का निधन हो गया। उनके तीन संतानें हुईं।

’श्रीरश्मि’ ने भारत सरकार के प्रधान सूचना अधिकारी पद से स्वैच्छिक अवकाश ग्रहण कर 1988 में अपना शेष जीवन जन-कल्याण को समर्पित कर दिया। शहर की सुविधा त्याग वे दूरदराज़, खगोलशास्त्री आर्यभट की जन्मस्थली, खगौल ग्राम, में बस गये। निर्धनों की सहायता, रोगियों का इलाज, और निरीह पशु-पक्षियों का संरक्षण उनकी दिनचर्या बन गया। उन्होंने साधनहीन बच्चों को शिक्षित कर उनका भविष्य सँवारने का संकल्प लिया, और जीवनपर्यन्त इसी महाप्रयास के प्रति पूर्ण समर्पित रहे।

’श्रीरश्मि’ की लगभग तीन सौ रचनायें 1960 के दशक की प्रमुख हिन्दी, उर्दू, गुजराती तथा कन्नड़ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। हिन्दी पत्रिकाओं में से कुछ के नाम हैं - ’नीहारिका’, ’साप्ताहिक हिन्दुस्तान’, ’कादम्बिनी’, ’त्रिपथगा’, ’सरिता’, ’मुक्ता’, ’नवनीत’, ’माया’, ’मनोहर कहानियाँ’, ’रानी’, ’जागृति’ तथा ’पराग’।

उनके उपन्यास हैं - ’दिव्यधाम’, ’तो सुन लो’, ’प्यासा पंछीः खारा पानी’, ’धू घू करती आग’, ’आनन्द लीला’, ’यूटोपिया रियलाइज़्ड’ तथा ’द प्लेज़र प्ले’।

उन्होंने ’विहँसते फूल, नुकीले काँटे’ नाम से महापुरुषों के

व्यंग्य-विनोद का संकलन किया।

’श्रीरश्मि’ द्वारा अनुवादित रचनायें हैं - ’डॉ आइन्सटाइन और ब्रह्मांड’, ’हमारा परमाणु केन्द्रिक भविष्य’, ’स्वातंत्र्य सेतु’, ’भूदान यज्ञः क्या और क्यों’, ’सर्वोदय और शासनमुक्त समाज’, ’हमारा राष्ट्रीय शिक्षण’ तथा ’विनोबा की पाकिस्तान यात्रा’।

अनुक्रम

आवरण

पहले ही दिन हमारे निकटतम पड़ोसी - सामने के फ़्लैट में रहनेवाले बख्शी-दम्पति - ने जब हमें शाम की चाय का निमन्त्रण दिया, तब, कह नहीं सकता, हमें कितनी ख़ुशी हुई। दिल्ली में मेरी नियुक्ति की सूचना पाकर पटना में जिस किसी ने भी हमें बधाई दी थी, इस बात के लिए हमारे साथ सहानुभूति भी जतायी थी कि वहाँ और सब चीज़ें तो मिल जाएँगी, पर पड़ोसी अच्छे नहीं मिलेंगे। फिर भी, दिल्ली जाने का लोभ मैं संवरण न कर सका था। तेरह साल तक विभिन्न दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों में काम करते-करते ऊब कर ही मैंने एक दिन भारत-सरकार के एक मन्त्रालय में हिन्दी-अफ़सर के रिक्त पद के लिए आवेदन पत्र दे दिया था, हालाँकि अपने चुने जाने की उम्मीद मुझे कतई न थी। मेरे कई मित्र छः-छः बार यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन को अपना चेहरा दिखा कर निराश लौट चुके थे, इसलिए अपना भी वही हश्र होने की मैं आशा कर रहा था। पर हुआ इसके ठीक विपरीत - कमीशन ने समस्त उम्मीदवारों में मुझे ही सबसे सुर्ख़रू माना और फलस्वरूप सरकार ने वह पद मुझे अर्पित कर दिया। अब अनायास ही प्राप्त हो

गयी इस दुर्लभ उपलब्धि को केवल पड़ोसियों के डर से भला मैं कैसे तज देता! सो, दिल्ली-स्थित अपने एक मित्र को मैंने किराये का एक फ़्लैट ले लेने को लिखा और फिर उनसे लाइन क्लियर मिलते ही सपरिवार दिल्ली पहुँच गया। मित्र ने हमें फ़्लैट तक पहुँचाया, कुछ ज़रूरी चीज़ों की व्यवस्था की, फिर किसी कार्यवश वे चले गये। उनके जाने के कुछ ही मिनट बाद ड्रेसिंग-गाउन में लिपटी मिसेज़ बख्शी ने आकर इला (मेरी श्रीमतीजी) से दो-चार बातें कीं, फिर मिस्टर बख्शी से राय-परामर्श करके वे शाम की चाय का निमन्त्रण दे गयीं। दिल्ली में पड़ोसी भी अच्छे मिले - इसकी प्रतीति स्पष्टतः हमारे लिए बड़ी सुखद थी। हमें पाँचवी फ़ेल उन कुबड़े ज्योतिषी पंडित का बरबस स्मरण हो आया, जो जी. पी. ओ. के बाहर, पटना-गया रोड पर बैठ कर, केवल पाँच-पाँच आने में नित्य ही न-जाने कितने लोगों का भाग्य-निर्णय किया करते थे। उन्होंने मुझसे साफ़-साफ़ कह दिया था कि इस समय मेरे सितारे बेहद बुलन्दी पर हैं।

निमन्त्रण देकर जाने के बाद मिसेज़ बख्शी दो-चार बार दिखाई तो पड़ीं अपने बरामदे में, पर हम लोगों से कोई बातचीत नहीं हुई उनकी। मिस्टर बख्शी से भी एक बार नमस्कार-प्रणाम के समय ही जो दो-एक वाक्यों का आदान-प्रदान हुआ था, उसके बाद वे भी गम्भीर मुद्रा में ही एक-दो बार अपने कमरे-बरामदे में दिखाई

पड़े। जब किसी की मुखमुद्रा गम्भीर हो, तब, कहना व्यर्थ है, उससे कुछ पूछने-बोलने का साहस जल्दी नहीं होता किसी को। सो, नये-नये होने के कारण यद्यपि हमें बात-बात पर सवाल करने की ज़रूरत पड़ रही थी, तथापि हमने ज़ब्त से काम लिया। एक-दो बार इला ने पूछताछ की भी, तो उनके पीछे में, उनके बारह-तेरह वर्षीय नौकर शामू से।

लेकिन सन्ध्या-समय, लगभग साढ़े चार बजे, मिसेज़ बख्शी जब हमें बुलाने आयीं, तब उनकी सज-धज में फ़िल्मी आकर्षण तो था ही, उनके चेहरे पर भी अद्भुत रूप से मृदुता छलक रही थी। हालाँकि वे ठिगनी और तनिक स्थूलकाय थीं, फिर भी अच्छी लग रही थीं - किसी पुरुष को आकर्षित करनेवाली कशिश एक हद तक आ गयी थी उनमें। आते ही वे एक चपल मुस्कान के साथ बोलीं - “अरे, अभी तैयार नहीं हुए आप लोग?”

मैंने बड़े सहज भाव से उत्तर दिया - “तैयार क्या होना है! घर की ही तो बात है!”

सुन कर मिसेज़ बख्शी की भृकुटियों में थोड़ा तनाव आया, लेकिन जल्दी ही विलीन भी हो गया; वे बोलीं - “वह तो है ही, लेकिन यहाँ के नेबर्स कुछ दूसरे ढंग के हैं - घर में भी कपड़े-गहने ही देखते हैं।”

“अच्छा?” - इला ने थोड़ा आश्चर्य प्रकट किया, फिर पूछा

- “क्या दूसरे पड़ोसी भी आ रहे हैं?”

“हाँ, मित्रा और कौल, दोनों को बुलवा लिया है। इसी बहाने उनसे भी पहचान हो जाएगी आपकी! ... वैसे पहचान भी क्या होगी! वह तो धीरे-धीरे ही जान पाएँगे आप, लेकिन ... मीन माइंडेड लोग हैं, कहते फिरेंगे कि बुलाया नहीं। ... ख़ैर, जल्दी तैयार होकर आ जाइए। उन लोगों के आने के बाद बातचीत भी नहीं हो पाएगी हमारी!” और, वे मुग्ध भाव से हम सबको निहारती, इठलाती चली गयीं।

अब हमारे लिए मजबूरी हो गयी सजने-सँवरने की - मेज़बान की बात तो रखनी ही थी। सो, मन मसोस कर, हम इस तरह तैयार हुए, जैसे पड़ोस में चाय पीने नहीं, सिनेमा या थियेटर देखने जा रहे हों। लेकिन सचमुच, आगे की बातें सिनेमा या थियेटर से कुछ कम मनोरंजक सिद्ध नहीं हुईं। ज्यों ही हम (मेरे अलावा इला और दोनों बच्चे - शेखर और प्रवीण) उनके बरामदे में पहुँचे, मिसेज़ बख्शी ने दो क़दम आगे बढ़ कर हमारा स्वागत किया - कुछ-कुछ वैसे ही, जैसे हवाई जहाज़ से निकलने पर किसी विदेशी प्रधान मन्त्री का स्वागत एक प्रधान मन्त्री करता है। फिर, वे हमें मानो राष्ट्रपति भवन ले गयीं - ड्राइंग रूम के दरवाज़े पर मिस्टर बख्शी ने मुस्कुराते हुए मुझसे हाथ मिलाया, फिर हमारी तरफ़ मुँह किये-किये ही, पीछे हटते हुए, वे हमें स्प्रिंगदार सोफ़ों की ओर ले

गये। इस बीच उनकी और उनकी श्रीमतीजी की दृष्टि बराबर मेरे और मेरी श्रीमतीजी के चेहरे पर गड़ी रही - क़रीब-क़रीब वैसे ही, जैसे अध्ययनरत विद्यार्थी की नज़र किताब से नहीं उठती।

बख्शी-परिवार के ड्राइंग-रूम की सजावट देख कर हमें मानना पड़ा कि उनके जीवन में व्यवस्था और रुचि में कलात्मकता थी। कमरे में दो सेट सोफ़े थे - एक सेट स्प्रिंगदार गद्दीवाला और दूसरा लकड़ी का। दो ओर आमने-सामने दोनों ट्रिपल-सीटर रखे थे और बाक़ी दो ओर क्रमशः गद्दी और लकड़ीवाले दो-दो सिंगल-सीटर। बीच में एक बड़ी-सी डबल-डेकर तिपाई थी और चारों कोनों पर एक-एक छोटी गोल तिपाई। हर तिपाई पर एक-एक ऐश-ट्रे तो थी ही, चारों गोल तिपाइयों पर आबनूस की एक-एक सुन्दर कलाकृति भी रखी थी। समस्त सोफ़े और तिपाइयाँ एक सुन्दर गलीचे पर धरी थीं। एक दीवार में बनी बुक-शेल्फ़ में अंग्रेज़ी की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें सजी थीं, जिन्हें देख कर ऐसा लगता था, जैसे वे अभी-अभी दुकान से लायी गयी हों - उन्हें किसी ने छुआ तक न हो। एक दूसरी दीवार में बनी थी टॉय-शेल्फ़, जिसके शीशों के अन्दर से बड़े सुन्दर-सुन्दर खिलौने झाँक रहे थे। शेष दोनों दीवारों में क्रमशः एक-एक वार्ड-रोब और आलमारी बनी थी और उनकी बगल में अवस्थित था एक-एक दरवाज़ा। बुक- शेल्फ़ के ऊपर मेडोना का चित्रवाला एक बड़ा-सा, सुन्दर, कैलेंडर लटका था।

कमरे में फ़्रेम की हुई तस्वीरें कुल दो थीं; दोनों छपी हुई पेंटिंग - एक लैंडस्केप और दूसरी पोर्टेट। वह पोर्टेट मेरी जानी-पहचानी थी - किसी समय 'इंडिया वीकली' में छपी थी और मुझे बहुत पसन्द आयी थी। मैं भी उसे फ़्रेम कराना चाहता था, पर किन्हीं मँगतू की कृपा से वह अंक ही हमारे हाथ से निकल गया था। सुप्रसिद्ध चित्रकार शाण्डिल्य के उस चित्र ने पुनः मुझे अपनी ओर आकर्षित किया और मैं उसके पास जा खड़ा हुआ। भयंकर तूफ़ान में अकेली खड़ी वह ख़ानाबदोश गड़रिया युवती, जिसके फट कर तार-तार हो गये दुपट्टे को आँधी उड़ा ले जाना चाहती थी, पर जिसे उसने दोनों मुट्ठियों से कस कर पकड़ रखा था। 'इंडिया वीकली' ने इस चित्र का शीर्षक दिया था - “आवरण का मोह”। मैं कुछेक क्षण उस चित्र को निहारता रहा, फिर वापस अपनी जगह लौट आया।

मेरे वापस आते ही मिस्टर बख्शी ने प्रश्न किया - “पसन्द आयी पेंटिंग?”

मैंने कहा - “बहुत!”

“मुझे भी बहुत पसन्द है। मेरे एक फ़्रेंच आर्टिस्ट फ़्रेंड ने अपनी आर्ट का यह नमूना मुझे भेंट किया था!” - मिस्टर बख्शी बोले।

सुन कर मैं थोड़ा चौंका, प्रतिवाद करने को भी उद्यत हुआ, लेकिन फिर जल्दी ही सम्भल गया, बात बदलते हुए बोला -

"सचमुच आप लोगों की रुचि बड़ी परिष्कृत और कलात्मक है। इतने सुन्दर ढंग से आपने सजाया है अपना ड्राइंग-रूम कि प्रशंसा के लिए शब्द नहीं मिलते।" मैं, वास्तव में, मन-ही-मन सोच रहा था कि अपना कोई कमरा अगले दस साल तक भी मैं शायद ही इस तरह सजा पाऊँ।

"थैंक्स फ़ॉर द कॉम्प्लिमेंट!" - मिस्टर बख्शी ने कहा और मिसेज़ बख्शी ने बात आगे बढ़ायी - "अजी, दो कमरों में आदमी क्या-क्या करे। इतना किराया रख छोड़ा है इन ब्लैक मार्केटियर्स ने कि ... मेरे पास अगर एक बँगला होता या चार कमरों का फ़्लैट ही होता, तो दिखा देती लोगों को। अब गार्डनिंग को ही लीजिए न ... मन मसोस कर रह जाती हूँ। कहाँ की जाए गार्डनिंग? इन सेठ के बच्चों की छाती पर? ... "

"जी हाँ, वह तो है ही। शहरों में ये सब सुभीते कहाँ!" - मैंने कहा।

"हीयर यू आर। दिस् इज़ द अनप्लेज़ेंट रीयलिटी!" - मिस्टर बख्शी ने कहा - "ख़ैर, तो आप यहाँ फ़ाइनेंस मिनिस्ट्री में आये हैं! ... मेरा ख़याल है, हिन्दी-ऑफिसर की पोस्ट क्लास वन ही होगी!"

"जी हाँ," मैंने जवाब दिया - "जूनियर स्केल की!"

"ओह! दैट डज़ण्ट मैटर। क्लास वन आफ़्टर ऑल क्लास

वन है।" - मिसेज़ बख्शी ने मेरा हौसला बढ़ाया - "पटने में आप क्या करते थे? गवर्नमेण्ट सर्विस में तो आप नये-नये ही आये हैं न?"

"जी हाँ, वहाँ मैं एक हिन्दी-दैनिक में सहायक सम्पादक था।"

"हिन्दी-दैनिक? सहायक सम्पादक? एक्सक्यूज़ मी, मैं समझी नहीं।"

"असिस्टैण्ट एडीटर इन ए हिन्दी डेली।" - मैंने तुरन्त अनुवाद पेश किया।

"ओहो! तो आप जनर्लिस्ट थे। सचमुच बड़ी ख़ुशी हुई आपको अपने पड़ोसी के रूप में पाकर।" - मिस्टर बख्शी बोले - "बस, यही है कि यहाँ मिलना-जुलना ज़रा सम्भल कर कीजिएगा। ऑल सेल्फ़िश पीपल! पहले तो इस तरह मिलेंगे, जैसे आपके रिलेटिव हों, लेकिन फिर हिस्सा वसूलने लगेंगे, दुश्मनी ठान लेंगे। यह मित्रा जो है आपके नीचे के फ़्लैट में, वह है तो महज़ सेक्शन ऑफ़िसर, लेकिन कुछ न पूछिए शान की - बात-बात में जताएगा कि गैजेटेड ऑफ़िसर है। क़रीब-क़रीब यही हाल कौल का भी है - मेरे नीचे के फ़्लैट में जो रहता है, वह - एक गवर्नमेंट हायर सेकंडरी स्कूल का प्रिंसिपल है और समझता है कि हर कोई आठवें दर्जे का लड़का ही है। ... अरे, यहाँ कम कौन है तुमसे? मैं ख़ुद एम. एस-

सी. हूँ, मेरी बीवी एम. कॉम. है। दोनों अच्छी ही जगहों पर काम कर रहे हैं, लेकिन ... "

"अरे हाँ, माफ़ कीजिएगा मेरी बेअदबी।" - मैंने चौंक कर कहा - "आप लोगों के बारे में तो मैंने कुछ पूछा ही नहीं। कहाँ लगे हैं आप लोग?"

"मैं यहाँ फ़िज़िकल लेबोरेट्री में सीनियर साइंटिफ़िक असिस्टेण्ट हूँ। बस, एकाध महीने में ही तरक़्क़ी होनेवाली है - जूनियर साइंटिफ़िक ऑफ़िसर बन जाऊँगा। यों, पैसे का तो कुछ फ़ायदा नहीं होगा, लेकिन गैजेटेड स्टेटस मिल जाएगी। यह वासन्ती भी गवर्नमेण्ट सर्विस में ही है; पी. एस. है होम मिनिस्ट्री के एक डिप्टी सेक्रेटरी की। इसकी तरक़्क़ी का भी चांस आ ही गया है - बस, आज-कल में चल रही है बात। इसे भी गैजेटेड पोस्ट मिल जाएगी।"

"ओह, बड़ी ख़ुशी की बात है। ... बच्चे-वच्चे? ... "

सुन कर मिस्टर बख्शी ठठा कर हँस पड़े और मेरे सवाल का जवाब दिया मिसेज़ बख्शी ने - "अभी तीन ही साल तो हुए हैं शादी को। और फिर, जब तक हज़ार रुपये की आमदनी न हो, कौन फँसे इस जंजाल में! अभी सातेक सौ रुपये मिल जाते हैं - बस तीन सौ की कसर है। इन तरक़्क़ियों के बाद यह कसर भी पूरी हो जाएगी, तब ... "

“तब दूसरी तरफ़ भी तरक़्क़ी करेंगे आप लोग।” - मैंने हँसते हुए उनकी बात पूरी की - “अच्छा ख़याल है आपका। काफ़ी सावधानी से काम ले रहे हैं आप लोग।”

तभी दो पुरुष और दो स्त्रियाँ कमरे में दाख़िल हुईं और बख्शी-दम्पति “आइए-आइए” कहते हुए उनकी ओर बढ़ गये। मैं भी इला के साथ-साथ शिष्टाचारवश हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। जब सब लोग सोफ़ों के घरौंदे में आ गये, तब मिस्टर बख्शी ने बड़ी पुरजोश आवाज़ में उनसे हमारा परिचय कराया - “मीट आवर न्यू नेबर्स - मिस्टर ऐंड मिसेज़ ... “ बोलते-बोलते वे रुक गये और तब उनकी कठिनाई समझ कर मैंने वाक्य पूरा किया - “सिन्हा।”

अब मिस्टर बख्शी की रुकी गाड़ी आगे बढ़ी - “रिनाउंड जर्नलिस्ट, ऐंड नाउ ए क्लास वन सीनियर स्केल ऑफ़िसर ऑफ़ द गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया!”

परिचय कराने का यह ढंग मुझे थोड़ा बेहूदा लगा, मन में यह भी आया कि जूनियर-सीनियर स्केल की उनकी भूल सुधार दूँ, पर तभी मिस्टर बख्शी ने आँख मार कर मुझे चुप रहने का इशारा किया और दोनों पड़ोसियों का परिचय देने लगे - “हीयर इज़ मिस्टर मित्रा। आपके ठीक नीचे हैं। ए वेरी नाइस ऐंड सिम्पल मैन - इस हद तक सिम्पल कि लोगों ने बेईमानी करके कई साल तक इनकी तरक़्क़ी रोके रखी, और अब, अभी हाल में, इन्हें सेक्शन ऑफ़िसर

की पोस्ट मिली है।” दुबले-पतले, गोरे, सुन्दर, लगभग चालीस वर्ष के उन बंगाली सज्जन से “आपसे मिल कर बड़ी ख़ुशी हुई” कहते हुए मैंने हाथ मिलाया।

अब लगभग पचास-वर्षीय स्थूलकाय कौल महोदय का परिचय दिया गया - “ऐंड मीट मिस्टर कौल - ए थौरो जेंटिलमैन। हमारे नीचे के फ़्लैट में हैं। ही इज़ द प्रिंसिपल ऑफ़ ए गवर्नमेंट हायर सेकंडरी स्कूल। आप तो दिल्ली में नये हैं, शायद मालूम न हो, इनकी भी पोस्ट गैजेटेड है। और साहब, सच पूछिए, तो यह कुछ भी नहीं है। इनके पढ़ाये हुए कितने ही लड़के आई. ए. एस. बन गये, पर ये ... माइ गॉड ... डाउन विथ फ़ेवरेटिज़्म ... इन्हें अब तक इन्सपेक्टर ऑफ़ स्कूल्स से भी ऊँची पोस्ट मिलनी चाहिए थी - ऐट लीस्ट ए क्लास वन पोस्ट।”

उनसे भी मैंने हाथ मिलाया और फिर हम सब बैठ कर बातचीत करने लगे। यों, चुप कोई नहीं बैठा था, हर कोई बोल रहा था, हँस रहा था, फिर भी मुझे लगा, जैसे सबके दिल-दिमाग़ पर कोई बोझ पड़ा है - दिल से न तो आवाज़ ही निकल रही थी और न हँसी। बातचीत का विषय भी अक्सर घूम-फिर कर प्रशासन की अव्यवस्था पर आ जाता था - हर कोई अपने दफ़्तर की बुराइयों का ही रोना रोने लगता था और सुननेवाले ऊबने लगते थे। उधर देवियों की भी बातचीत घूम-फिर कर एक ही विषय पर आ जाती थी - नये

फ़ैशन के कपड़े, आभूषण और घरेलू सामान पर।

बातचीत इसी तरह घिसट रही थी, जब शामू नाश्ते की चीज़ें और चाय की दो ट्रे रख गया। मिसेज़ बख्शी ने सबको एक-एक प्लेट पकड़ायी और 'सेल्फ़ हेल्प' का अनुरोध किया। सबने अपनी-अपनी प्लेट में थोड़ी दालबीजी, एक-एक रसगुल्ला, एक-एक केक-पीस और एक-एक समोसा रख लिया।

अब खाते-खाते ही मिसेज़ बख्शी ने इला से पूछा - "कहिए, कैसा है रसगुल्ला?"

"बहुत अच्छा है!" - जवाब मिला।

"अन्नपूर्णा से मँगवाया है। बड़ी मुश्क़िल से मिला।" - श्रीमती बख्शी अपनी पड़ोसिनों को लक्ष्य कर कहने लगीं - "जब शामू पहुँचा वहाँ, तब स्टॉक ही ख़त्म हो चुका था रसगुल्ले का, लेकिन दुकान का मालिक उस समय वहीं था, बोला कि बख्शी साहब के लिए तो रसगुल्लों का इन्तज़ाम करना ही पड़ेगा और अपने नौकर को हुक़्म दिया कि मेरे घर के लिए जो रसगुल्ले रखे हैं, वही दे दो। अपनी देखी जाएगी। ... और साहब, तब कहीं ये बारह रसगुल्ले मिल पाये।"

श्रीमती बख्शी की बात सुन कर पड़ोसिनों के चेहरे पर एक अजीब-सा भाव आया, फिर भी वे मुस्कुरा कर उनके कथन का समर्थन करती रहीं। पर अभी दो-चार मिनट ही बीते होंगे कि मिसेज़

कौल बोल उठीं - "यह दालबीजी कहाँ से मँगवा ली आपने? पुरानी लग रही है। दालबीजी तो, बस, वेंगर्स से लेनी चाहिए। मैं तो वहीं से लेती हूँ।"

"आप ठीक कह रही हैं," - मिसेज़ बख्शी बोलीं - "थोड़ी पुरानी हो गयी है। तीन दिन पहले रमेश आगरे गया था, वहीं से मँगवायी थी। मुझे तो, भई, आगरे के सिवा कहीं की दालबीजी नहीं भाती। सब कूड़ा देते हैं।"

तभी मिसेज़ मित्रा ने बातचीत का रुख़ मोड़ दिया - "एई क्रोकारी शेट तो नोतून लाग राहा हाय। एई कोब माँगवाया, मिसेज़ बोक्शी? आच्छा हाय।"

"पिछले हफ़्ते।" - मिसेज़ बख्शी ने उत्साह से भर कर जवाब दिया - "बड़ा गला काट रहे हैं ये क्रॉकरीवाले भी - पचास का दिया।"

"लेकिन हाय आच्छा। आपना तो कूछ बाजार का भाव मालूम नेईं। गोत बोच्छोरई तीन शेट ले लीया था, पोंइसोट्टी-पोंइसोट्टी का। बाश, काम चोल राहा है। आब तो ओइशा शेट एक शो टाका में भी नेई मिलेगा!"

"हाँ, सचमुच, क्या मिलेगा अब।" - मिसेज़ कौल अपनी साड़ी का पल्लू दिखाती हुई बोलीं - "यह साड़ी पिछले साल सिर्फ़ डेढ़ सौ में ली थी! लेकिन अब, जानती हैं, क्या क़ीमत है इसकी?

पूरे ढाई सौ। उस दिन चाँदनी चौक गयी, तो पूछा और सन्न रह गयी। कितनी आग लग गयी है बाज़ार में। उफ़्, नोट तो ऐसे जल रहे हैं, जैसे पीपल के पत्ते।”

इन लोगों की बातचीत के विषय और ढंग से मुझे बड़ी बोरियत हो रही थी, सो अनायास ही मेरे मुँह से निकल गया - “यही तो मज़े की बात है। हम एक ओर तो आग बुझाना चाहते हैं और दूसरी ओर उसमें पीपल के पत्ते भी डालते जा रहे हैं। आग बुझाने का हमारा ढंग भी तो निराला ही है।”

“बिल्कुल सही फ़रमाया आपने।” - मिस्टर कौल उछल पड़े - “एक दिन इस फ़ैशन की आग में, देखिएगा, सब जल मरेंगे, कोई नहीं बचेगा।”

“लेकिन कोई करे भी क्या?” - मिसेज़ कौल ने ही अपने पति को जवाब दिया - “आख़िर, रहना तो सोसाइटी में ही है! न कीजिए यह सब, तो कोई सीधे मुँह बात भी न करे।”

“अरे, न करे, तो न करे। बात करने के पीछे क्या जान दे दी जाए?” - मिस्टर कौल ने ज़रा तेज़ आवाज़ में कहा।

“अब आपकी तरह हर कोई शिवशंकर तो बन नहीं जाएगा।” - मिसेज़ कौल के स्वर में वितृष्णा तैर रही थी - “दुनिया में रहना है, तो उसके साथ ही चलना भी पड़ेगा। ... “

“एक्शकिउज़ मी, काउल साहिब!” - मिस्टर मित्रा ने

अपने सुनहले फ़्रेम के चश्मे को ज़रा ठीक से नाक पर जमाते हुए कहा - “आपका मिसेज़ का बात गोलोत नेईं हाय ... “

बीच में ही मिसेज़ बख्शी ने दखल दिया - “मिस्टर मित्रा, ह्वाई डोंच यू स्पीक इन इंगलिश ह्वेन हिन्दी इज़ नॉट कन्वीनिएंट टु यू? इट लुक्स फ़नी टु हीयर यू स्पीकिंग हिन्दी!”

मिस्टर मित्रा के चेहरे पर लज्जा और आक्रोश का भाव आ गया, पर जवाब देने में देर नहीं की उन्होंने - “दैट इज़ नॉट माई फ़ॉल्ट, मिशेज बोक्शी। दीश ब्लडी लैंग्वेज इज़ लाइक दिश। बट आइ कांट हेल्प इट। यू नो, मिशेज काउल डजण्ट नो इंग्लिश ... “ बोलते-बोलते उन्होंने मेरी ओर एक भेदती निगाह फेंकी, मानो पूछ रहे हों - “तुम्हारी बीवी भी जानती है अंग्रेज़ी कि नहीं?”

“ओह, यू आर राइट। सॉरी फ़ॉर द इंटरप्शन!” - मिसेज़ बख्शी के खेद में भी दर्प की झलक थी - “आई फ़ॉरगॉट एबाउट मिसेज़ कौल।”

मिस्टर मित्रा ने अपनी बात आगे बढ़ायी - “हाँ, तो हाम आपको बाताता हाय कि ड्रेश का बोरा ओशोर होता हाय। जे कोनो दिन हाम मामूली, माने आड़ाई-तीन टाका गोज का, कापरा पोन के आपिस जाता हाय, शाला डाइरेक्टर ठीक शे बात भी नेईं कोरता, बाक-बाक कोरता हाय, आउर जे दिन आच्छा कापोर में जाता हाय, ओ दिन शाला चुप कोरके देखता हाय, हाशी का शाथ बात कोरता

हाय। ओरे किया बोलेगा, शाला चापरासी भी बोकुनी शुनने से पोहिले कापोर देखता हाय! ... माने बिबोशता है आदमी का। किया कोरेगा?”

मिसेज़ कौल उत्साह से भर उठीं, अपने पति की ओर इशारा करते हुए मिस्टर मित्रा से बोलीं - “अरे, छोड़िए इनकी बात। इनको तो बच्चों को उपदेश देते-देते उपदेश देने की आदत पड़ गयी है। कपड़ा ज़्यादा महँगा हो जाएगा, तब देखिएगा, ये अंडरवियर पहन कर स्कूल जाएँगे। ... तभी तो तरक़्क़ी नहीं मिलती!”

मिस्टर कौल को, ज़ाहिर है, यह रिमार्क न भाता। उन्होंने अपनी पत्नी पर एक शिकायत-भरी नज़र डाली, फिर मुझे लक्ष्य कर कहा - “औरतों को समझाना सचमुच बड़ा मुश्क़िल है। अच्छी बातें तो उनके दिमाग़ में धँसती ही नहीं।”

“अच्छा-अच्छा। बड़े आये दिमाग़वाले। देख लिया - अब चुप रहिए। औरतें न होतीं, तो देख लेते दुनिया, दे लेते उपदेश!” - मिसेज़ कौल ग़ुस्से से काँप रही थीं।

अब मैंने ज़रा ग़ौर से मिस्टर कौल और उनकी श्रीमतीजी को देखा। दोनों के पहनावे-ओढ़ावे और रूप-सज्जा में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। मिस्टर कौल ने मामूली-से कपड़े का कुर्ता-पाजामा पहन रखा था और उनके खिचड़ी केश बिना तेल के बिखरे हुए थे, जब कि लगभग पैंतालीस-वर्षीया मिसेज़ कौल ने न केवल

सौ-एक रुपये की साड़ी पहन रखी थी, बल्कि उनके गालों पर रूज़ और होठों पर लिपस्टिक की लाली भी बिखरी हुई थी। तो, यह विवाद नया नहीं, काफ़ी पुराना था। मिस्टर कौल के प्रति मेरा मन सहानुभूति से भर गया और किसी तरह मैंने दोनों को शान्त किया। पर इसके बाद बैठक अधिक देर तक चल न सकी - कोई दस मिनट बाद ही हम सब उठ गये।

वस्तुतः इतना ही परिचय काफ़ी था हमारे लिए। उस रात हम मियाँ-बीवी ने एकमत से यह स्वीकार किया कि कुबड़े ज्योतिषी की सितारों की बुलन्दीवाली बात पड़ोसियों के सन्दर्भ में लागू नहीं होती, और यदि हमने सावधानी से काम न लिया, तो हमारे पारिवारिक जीवन पर उल्कापात होते देर न लगेगी। सो, श्रीमतीजी ने अपनी जीभ काट कर और मैंने अपने कान पकड़ कर निश्चय किया कि इन पड़ोसियों से हम यथासम्भव दूर ही रहेंगे।

पर बख्शी-दम्पति ’न छोड़नेवाला कम्बल’ साबित होने लगे। जब कभी उनके सामने समय काटने की समस्या होती, वे हमारे यहाँ आ धमकते और इधर-उधर की, पड़ोसियों की, निन्दा करके हमारे कान जो पकाते सो पकाते ही, उल्टे-सीधे स्वयं हमारी भी निन्दा आरम्भ कर देते। कभी कहते, “बच्चों को किस सड़ियल स्कूल में डाल दिया आपने भी - सेंट ज़ेवियर्स या फ़्रैंक ऐन्थोनी में डालना था।” और कभी कहते, “इन सोफ़ों को देख कर तो ऐसा

लगता है, जैसे नीलामी से उठा लाये हैं।” एक बार तो उन्होंने मुझे अपनी घड़ी को पटक कर नयी पाँच-छः सौ की घड़ी ख़रीदने की भी राय दी, क्योंकि क्लास वन अफ़सर होने पर वह ऐसा ही करते। आख़िर, सुनते-सुनते एक दिन धीरज खो बैठा, तो मैंने कह दिया - “भई, कहना तो ठीक है आपका, लेकिन क्लास वन के बदले में कहाँ देता है कोई कुछ। सब माँगते हैं रुपया, और मुझे रुपये मिलते हैं कम - सिर्फ़ चार सौ। तब क्या करूँ, कैसे करूँ - आप ही बताइए कोई राह।” सुन कर मिस्टर बख्शी ने राह तो कोई नहीं बतायी, वे जल्दी से जोड़ने लगे मेरी कुल तनख़्वाह - “बत्तीस रुपये सिटी एलाउन्स और साठ रुपये हाउस रेंट एलाउन्स, यानी कुल चार सौ बानवे रुपये, यानी कट-छँट कर साढ़े चार सौ मिलते होंगे। फिर ठीक ही कहते हैं आप। जब सात सौ में हम दो आदमियों का ख़र्च नहीं चल पाता, तब ... “ उनके स्वर में अभिमान की इतनी बदबू थी कि मेरा सिर भिन्ना उठा।

अपने मकान के बाक़ी तीन किरायेदारों में से मिस्टर कौल ही मुझे भाये थे और उन्हीं से कभी-कभार दो-चार बातें करने में मुझे आनन्द आता था, पर उनकी पत्नी को हम लोग पसन्द न थे - हम लोगों से अधिक हमारे रहने-सहने का ढंग उन्हें पसन्द न था, हम ’बैकवर्ड’ थे; इसलिए अपने पति को मुझसे बातचीत करते देखते ही वे उन्हें किसी बहाने से पुकार लेती थीं। उधर, मित्रा-

दम्पति अपने-आपमें ही सिमट कर रहनेवाले जीव थे - ग़ैर-बंगालियों को 'मेरुआ-खोट्टा' समझने की भावना अब तक उनमें जड़ें जमाये हुई थी। केवल बंगाल उनका देश था और उससे बाहर के सब लोग विदेशी थे। फिर, उनमें हीनता की भावना भी बेहद थी - मेरा क्लास वन होना उन्हें बड़ा ख़लता था, हालाँकि मैंने कभी स्वयं यह अनुभव नहीं किया कि मैं उनसे कुछ बड़ा हूँ। एक पत्रकार कभी 'अफ़सर' हो ही नहीं सकता - वह तो प्रूफ़ उठानेवाले और जनरल मैनेजर से भी बराबरी का ही सम्बन्ध रखता है। जो 'अफ़सर' हो जाता है, वह वस्तुतः पत्रकार होता ही नहीं - आज भी मेरी यही धारणा है। पर मिस्टर मित्रा ने शुरू से अब तक अफ़सर और अफ़सरी ही देखी थी इसलिए वे मुझे अपने बराबर मान ही नहीं पाते थे। एक दिन तो आँगन में बैठ कर उन्होंने अपने एक मित्र से बात करते हुए ये वाक्य इतनी ऊँची आवाज़ में कहे कि ऊपर बैठे मुझ तक पहुँच जाएँ - "राज तो छिलो इंगरेजदेर! एखुन कि? एई कांग्रेजी राजे बूट पालिशवाला शोब मिनिश्टर होये आसछे। दुई टाकार लोग अफिशर हच्छे - क्लास वन हच्छे। इंगरेजदेर राजे अफिशर माने अफिशर। फेरिआला शोब कि गैजेटेड अफिशर होतो?" (राज तो अंग्रेज़ों का था। अब क्या? इस कांग्रेसी राज में सब बूट पालिशवाले मिनिस्टर बन कर आ रहे हैं। दो टके के लोग अफ़सर बन रहे हैं - क्लास वन अफ़सर। अंग्रेज़ों के राज में अफ़सर

का मतलब अफ़सर था। फेरी लगानेवाले लोग क्या गैजेटेड अफ़सर होते थे?)

लेकिन इसके बावजूद मुझे मित्रा-दम्पति और मिसेज़ कौल से कोई शिकायत न थी। अपने सोचने, समझने और व्यवहार करने के लिए वे स्वतंत्र थे - अपने मन में जो चाहें, समझें; अपने घर में जो चाहें, कहें या करें। वे कम-से-कम ज़बर्दस्ती हमसे टकराते तो न थे। पर बख्शी-दम्पति तो जैसे उधार वसूलने पर तुले थे हमसे। एक ओर वे हमसे सम्बन्ध भी बनाये रखना चाहते थे और दूसरी ओर हमें नीचा दिखाने का कोई अवसर भी नहीं छोड़ते थे। मियाँ-बीवी, दोनों का यही हाल था।

एक दिन मिसेज़ बख्शी ने मुझसे कहा - “कोई नॉवेल-टॉवेल है आपके पास?”

मैंने कहा - “नॉवेल? होंगे तो कुछ, लेकिन हिन्दी के!”

“हिन्दी में अच्छा लिखते हैं लोग?”

“क्यों नहीं, बहुत अच्छे-अच्छे उपन्यास हैं हिन्दी में।”

“दीजिए तो एक। ज़रा देखूँगी।”

और, मैंने उन्हें ’गोदान’ दे दिया, पर अगले ही दिन शामू उसे लौटा गया।

इसके दो दिन बाद मिसेज़ बख्शी आकर बोलीं - “कैसा होपलेस नॉवेल दिया आपने!”

मैं भौंचक, बोला - "'गोदान' तो बहुत ही अच्छा उपन्यास है!"

"होगा। मुझे तो नहीं जमा। एमेच्योर एफ़र्ट है। कोई नया-नया ही राइटर दीखता है।"

अब मैं क्या कहूँ। जी में आया कि दो-चार कड़वे-कड़वे सुना दूँ उनकी बेअक़्ली पर, लेकिन फिर कुछ सोच कर बोला - "नहीं, ऐसा तो नहीं है। लेकिन ख़ैर, आपको पसन्द नहीं आया, तो ... अब क्या कहा जाए। अपनी-अपनी पसन्द है।"

"हाँ, इंग्लिश के नॉवेल्स के मुक़ाबले कुछ जमा नहीं। दरअसल, हिन्दी की चीज़ें मैंने पढ़ी भी नहीं हैं। शुरू से अंग्रेज़ी की किताबें पढ़ती आ रही हूँ। मोपस्संट की कहानियाँ मुझे सबसे अच्छी लगीं। आपने पढ़ी है उसकी कोई कहानी? ... पढ़िए, ज़रूर पढ़िए।"

अब ऐसी मूर्खा से, जो मोपासाँ का सही नाम भी नहीं जानती थी, मैं क्या बहस करता, बोला - "देखूँगा।"

लेकिन बात यहीं ख़त्म नहीं हो गयी, उन्होंने आगे कहा - "आजकल मैं एक नॉवेल पढ़ रही हूँ, बहुत अच्छा नॉवेल है।"

स्वभावतः ही, मुझे पूछना पड़ा - "कौन-सा नॉवेल?"

"मौघम का नाम सुना है आपने? बहुत अच्छा इंग्लिश राइटर है। उसी का नॉवेल है - ऑफ़ या ऑन, मैं भूल रही हूँ, ह्यूमन

बॉण्डेज।"

"नहीं, मैंने नहीं सुना ऐसा कोई नाम। दरअसल, अंग्रेज़ी से मेरा कोई ख़ास लगाव नहीं रहा।" - मैंने कहा। अब मैं क्या उससे यह कहता कि आप जैसी पाठिका पाकर सॉमरसेट मॉम का कल्याण हो जाएगा। केवल मैट्रिक तक अंग्रेज़ी-साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली उस अंग्रेज़ीदाँ एम. कॉम. से यह कहना तो बेवकूफ़ी ही होती कि बी. ए. में मैंने न केवल अंग्रेज़ी-साहित्य में ऑनर्स लिया था, बल्कि एक अंग्रेज़ी-दैनिक में भी चार साल सह-सम्पादकी कर चुका था। वे तो, बस, मुझे हिन्दी में एम. ए. जानती थीं और इस कारण - उस मूढ़ सेठ की तरह, जिसने एक इंटरमीडियेट पास उम्मीदवार से प्रश्न किया था कि इंटरमीडियेट-फिंटरमीडियेट तो हुआ, मिडिल पास किया है या नहीं - मुझे अंग्रेज़ी से सर्वथा अपरिचित ही मानती थीं।

इधर, मुझे नीचा दिखाने के लिए उनके पास अंग्रेज़ियत का अजीर्ण था, और उधर, इला को दाबने के लिए अपनी साड़ियों तथा गहनों की संख्या और सात सौ रुपये की आमदनी। वे बात-बात पर इला से कहतीं - "इतनी महँगाई है। चार-साढ़े चार सौ में कैसे चलता होगा आपका काम? हमें तो सात सौ मिलते हैं और घर में सिर्फ़ दो आदमी हैं, फिर भी पूरा नहीं पड़ता।" और इला जवाब देती - "अब चल ही रहा है किसी तरह। न चलाएँ, तो क्या करें?

ग़रीबों-मजबूरों के क्या दिन नहीं कटते।" और "हाँ, सो तो है ही।" कह कर मिसेज़ बख्शी चुप हो जातीं। इला के मुँह से 'ग़रीब-मजबूर' शब्द सुन कर उन्हें राहत मिल जाती थी।

पर यह सात सौ का नारा भी एकदम ग़लत था, यह मुझे कुछ ही समय बाद मालूम हो गया था। एक दिन मेरे एक पुराने परिचित मिल गये, जो संयोगवश फ़िज़िकल लैबोरेटरी में ही सीनियर साइंटिफ़िक अफ़सर थे। उन्हीं से पता चला कि मिस्टर बख्शी सीनियर साइंटिफ़िक असिस्टेण्ट नहीं, जूनियर साइंटिफ़िक असिस्टेण्ट थे और उन्हें कुल मिला कर तीन सौ के आसपास वेतन मिलता था। दूसरी ओर, उनकी श्रीमतीजी, अर्थात् मिसेज़ बख्शी, किसी डिप्टी सेक्रेटरी की पी. एस. (डिप्टी सेक्रेटरी के प्राइवेट सेक्रेटरी होते ही नहीं, पर्सनल असिस्टेण्ट होते हैं) या पी. ए. नहीं, बल्कि एक मामूली टाइपिस्ट थीं और उन्हें कुल पौने दो सौ के क़रीब मिलते थे। फिर भी, हमने उन पर कभी यह बात प्रकट नहीं होने दी - सोचा, किसी की दुर्बलता पर क्यों आघात किया जाए, पड़ा रहने दो पर्दा! उन परिचित सज्जन से ही मुझे मिसेज़ बख्शी के शाम को अक्सर घर से लापता रहने के रहस्य का भी पता चला, हालाँकि सहसा मुझे विश्वास नहीं हुआ उस पर। किसी के भी चरित्र के बारे में कोई ऊँची-नीची बात आनन-फ़ानन मान लेने का मेरा स्वभाव नहीं है।

पर ग़लत नहीं कहा था उन्होंने, यह स्वयं मिसेज़ बख्शी ने ही एक दिन जता दिया मुझ पर। उन दिनों मेरी पत्नी मायके (बिहार) गयी हुई थीं - दोनों बच्चे भी उनके साथ ही थे। फिर संयोग कुछ ऐसा हुआ कि मिस्टर बख्शी को जियोफ़िज़िकल रिसर्च इंस्टीट्यूट में किसी काम के सिलसिले में हफ़्ते-भर के लिए हैदराबाद जाना पड़ा। जिस दिन मिस्टर बख्शी गये, उसके दूसरे ही दिन शाम को मिसेज़ बख्शी मेरे पास आ धमकीं। मैं एक कहानी लिख रहा था, उसे एक ओर करते हुए बोला - “आइए, आइए।”

वासन्ती रंग की नाइलोन की साड़ी और उसी रंग के ’चमकचाँदनी’ नाइलोन के ब्लाउज़ में परिवेष्टित मिसेज़ बख्शी मेरे सामने के सोफ़े पर बैठती हुई बोलीं - “मैंने डिस्टर्ब किया आपको न?” तभी उनके आँचल ने उन्हें डिस्टर्ब किया। यों, आँचल से कुछ ख़ास मतलब नहीं सध रहा था - उसके यथास्थान रहने के बावजूद ब्लाउज़ की ज़रूरत से ज़्यादा कटी गोलाई के अन्दर से उनके बोझिल उरोजों के बीच का गुलाबी दर्रा और ब्रेसियर की सफ़ेदी साफ़-साफ़ दिखाई दे रही थी, फिर भी ख़ानापूरी तो करनी ही थी; उन्होंने मेरी ओर सस्मित देखते-देखते ही उसे फिर से अपनी जगह रख दिया।

“डिस्टर्ब? नहीं तो। अकेले बैठा-बैठा ऊब गया था, इसीलिए लिखने लगा था!” - मैंने जवाब दिया।

"मुझे भी अच्छा नहीं लग रहा था। अकेलापन ख़ल रहा था। इसीलिए चली आई।" - कह कर वे एक अजीब दृष्टि से मुझे देखने लगीं।

"वह तो स्वाभाविक ही है। ... आज आप लौट भी तो जल्दी आयी हैं।"

"क्या करती? दफ़्तर में भी मन नहीं लग रहा था। सोचा, पिक्चर चली जाऊँ, पर अकेले जाना कुछ अच्छा नहीं लगा; आपको टेलीफ़ोन करने की सोची, लेकिन फिर ... अब जाने दीजिए ... कभी-कभी पागलपन सवार हो जाता है मुझ पर!" बोल कर एक 'कॉकेटिश' अन्दाज़ से उन्होंने अपनी नाक सिकोड़ी।

मुझे भी कुछ मज़ाक की सूझी, बोल पड़ा - "तो आपने मुझे अपनी कम्पनी से महरूम कर दिया बात-की-बात में।"

"कहाँ महरूम किया? आपके ही पास तो बैठी हूँ। ... दरअसल, उस समय मैंने सोचा कि आप पसन्द करें भी या नहीं मेरा प्रस्ताव!"

मैं मुस्कुराया - "ऐसा कैसे सोचा आपने?"

"कोई हमेशा खिंचा-खिंचा रहे, तो और क्या सोचा जा सकता है। साल-भर हो गया साथ रहते, कभी अपनी मर्ज़ी से दो बात भी की है आपने? मैं ही जब-तब छेड़ती रहती हूँ।"

मैं थोड़ा झेंप गया, झेंपने की बात ही थी, बोला - "क्या

बताऊँ, मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा है!”

“औरतों-जैसा ... न?” उनके होठों पर फिर एक मादक मुस्कान बिखर गयी।

मैं केवल मुस्कुरा कर रह गया। यह भी कोई जवाब देने-लायक सवाल था?

“सच बताइये, आप मुझसे खिंचे-खिंचे क्यों रहते हैं? क्या मैं पसन्द नहीं आपको? या कि आप समझते हैं कि एक क्लास वन आफ़िसर एक मामूली-सी औरत को क्या मुँह लगावे?” - मिसेज़ बख्शी ने एक बिखर आयी लट को उँगली में लपेटते हुए कहा।

“नहीं मिसेज़ बख्शी, ऐसी कोई बात नहीं है। आपको कुछ ग़लतफ़हमी हो गयी है। मुझे बहुत पसन्द हैं आप लोग। और फिर, अफ़सरी तो, आप देख ही रही हैं, कितनी है मुझमें!”

“नहीं, मेरा मतलब है, मेरा मॉडर्न होना, ज़माने के साथ चलना, आपको बुरा तो नहीं लगता?”

“नहीं तो, बुरा क्यों लगेगा?” - मैंने उन्हें समझाया - “अब देखिए न, हर व्यक्ति की अपनी-अपनी रुचि होती है, सोचने का ढंग होता है। हर कोई एक ही ढंग से कैसे सोच सकता है, कैसे चल सकता है? यह तो को-एक्ज़िसटेन्स का ज़माना है। दूसरों से समझौता किये बिना आदमी एक क़दम भी नहीं चल सकता।”

“दरअसल, बुनियादी तौर पर मैं भी सोचती आपकी ही

तरह हूँ, लेकिन सिचुएशन्स से कॉम्प्रोमाइज़ करना पड़ता है। जिस दुनिया में आदमी रहता है, उसी के साथ चलना भी तो पड़ेगा। नक्कू बन कर पिछड़े रहने में क्या मज़ा है? ख़ैर ... मुझे सचमुच बड़ी ख़ुशी हुई यह जान कर कि यू डू नॉट हैव ए डिस्लाइक फ़ॉर मी। ... नाउ आइ कैन फ्रीली टॉक टू यू। ... हाँ, तो बताइए, आज कम्पनी देंगे मुझे?" - मिसेज़ बख्शी ने पुनः अपने दग़ाबाज़ आँचल को सम्भाला।

"दे तो रहा हूँ।" - मैंने मुस्कुरा कर कहा।

"आपकी नज़र बड़ी वैसी है। इस तरह ग़ौर से क्या देख रहे थे?" मिसेज़ बख्शी-द्वारा अचानक किये गये इस सवाल ने मुझे चकरा दिया; फिर भी मैं जल्दी ही सम्भल गया, बोला - "एक तो ख़ुद दिखाएँ और फिर देखने पर कहें कि क्यों देखा। यों, है तो यह मॉडर्न फ़ैशन ही, लेकिन सच पूछिए, मैडम, तो यह अन्याय है।"

"यू मिसचिवस।" - कहते समय मिसेज़ बख्शी की आँखें अजीब ढंग से चमक उठीं, बोलीं - "बताइए, चलते हैं पिक्चर?"

"पिक्चर? अभी कौन-सी पिक्चर मिलेगी? सात बज रहे हैं।"

"नौ का शो, जनाब, नौ का! बोलिए, चलेंगे?"

मिसेज़ बख्शी की नीयत समझने में कुछ बाक़ी नहीं रह गया था और मैं उनके जाल में फँसने को तैयार नहीं था, इसलिए

कहा - “सेकंड शो तो, भाई, मुझे जमता नहीं। और फिर, आज मैं यह कहानी पूरी करना चाहता हूँ - मूड आया हुआ है। न होगा, कल या परसों चलेंगे, फ़र्स्ट शो में।”

“जैसी आपकी मर्ज़ी।” - मिसेज़ बख्शी का चेहरा थोड़ा लटक गया। वे कुछ देर सोचती रहीं, फिर बोलीं – “अच्छा, फिर चलें, कुछ ड्रिंक ही की जाए। मेरे यहाँ है। चलेंगे या यह भी नहीं?”

“ड्रिंक?” - मैं हँस पड़ा - “इन सब मामलों में मैं निहायत बैकवर्ड हूँ, मिसेज़ बख्शी। आइ ऐम सॉरी टु डिसप्वायंट यू।”

मिसेज़ बख्शी की आँखें अंगारे बन गयीं, बोलीं - “मैं सब समझती हूँ। मैंने मर्दों को बहुत पास से देखा है। आप मुझसे नफ़रत करते हैं। मैं आपको पसन्द नहीं हूँ। मैं बदसूरत हूँ। इसीलिये ये सब बहाने ... “ बोलते-बोलते उनकी आवाज़ भर्रा गयी, उनकी आँखों में आँसू भर आये।

मैंने इस स्थिति की कल्पना न की थी - दो क्षण के लिए मैं हक्का-बक्का रह गया, फिर यन्त्रचालित-सा उठ कर उनके पास पहुँचा और उनके सिर पर हाथ रख कर बोला - “विश्वास मानिए, मिसेज़ बख्शी। ऐसी कोई बात नहीं है। मैं आपकी इज़्ज़त करता हूँ। आपका दिल दुखाने का मेरा कोई इरादा नहीं था। मैं सचमुच नहीं पीता। वैसे, आप कहें, तो मैं आपके पास बैठ कर शर्बत पी लूँगा, आप जो चाहें, सो पीजिएगा! डोंट मिसअण्डरस्टैण्ड मी!”

पर मिसेज़ बख्शी पर इसका असर कुछ दूसरा ही हुआ। वे एक झटके से उठ खड़ी हुईं - “मुझे आपसे बात नहीं करनी। ऐसे हैंडसम नहीं हैं आप कि मैं मर जाऊँगी!” बोलते-बोलते वे बाहर निकल गयीं।

लेकिन अगले ही दिन शाम को वे फिर आयीं मेरे पास और धमकी दे गयीं कि अगर मैंने कल की घटना को प्रचारित किया, तो वे मेरे पारिवारिक जीवन में आग लगा कर रख देंगी। मैंने उन्हें बड़े ही संयत भाव से उत्तर दिया कि वे चाहे आग लगावें या पानी बरसावें, मैं किसी की कमज़ोरी का नाजायज़ फ़ायदा उठाने या मज़ाक उड़ाने में विश्वास नहीं रखता - वे निश्चिंत रहें। और, मेरा ख़याल है, उन्हें मेरी बात पर विश्वास भी हो गया, क्योंकि हैदराबाद से लौटने के बाद भी मिस्टर बख्शी का व्यवहार मेरे प्रति पूर्ववत् रहा - उनसे यह नहीं कहा गया था कि उनकी ग़ैरहाज़िरी में मैंने उनकी पत्नी से लिबर्टी लेने की कोशिश की थी। मिसेज़ बख्शी का व्यवहार अब पूर्ववत् हो गया था, मानो इस बीच कभी कुछ हुआ ही न हो।

यों, हुई तो यह एक अच्छी बात, पर अब तक अन्दर-ही-अन्दर मेरा मन बख्शी-दम्पति से बेहद खट्टा हो चुका था। हर बात में अतिशयोक्ति, हर काम कॉम्प्लेक्स से भरा हुआ। आख़िर, आदमी कब तक ख़ाली लिफ़ाफ़े को भरा बताए, और सिर्फ़ भरा ही न

बताए, उसके मजमून के काल्पनिक वर्णन को सुन-सुन कर दाद भी देता रहे। इस तरह पागल बनना या बनाया जाना मुझे कतई पसन्द न था, पर मजबूरी थी - मैं नहीं चाहता था कि उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचे। पर उन्हें जैसे मुझे ठेस पहुँचाने में ही मज़ा आता था। इधर उन्होंने मुझे और-तो-और, इस बात के लिए बैकवर्ड कहना और कोसना शुरू कर दिया था कि मेरे मित्रों की संख्या बहुत कम थी - मैं अनसोशल था। अब वे अक्सर अपने मित्रों के नाम और कारनामे सुना-सुना कर मुझे बोर करने लगे थे। अपने विदेशी मित्रों के नाम लेते समय तो उनके मुँह का जैसे ज़ायका ही बदल जाता था। फिर, बीच-बीच में वे यह भी जता देते थे कि उनका मित्र उन्हें अमेरिका, या हॉलैण्ड, या इंगलैण्ड, या जर्मनी बुलवाने की व्यवस्था कर रहा है। अपने मित्रों-परिचितों की संख्या इधर शायद बढ़ायी भी थी उन्होंने, क्योंकि अब अक्सर उनके यहाँ कोई-न-कोई व्यक्ति चाय या डिनर पर आता था। और, दुर्भाग्य मेरा, उनमें से कई मौक़ों पर वे मुझे भी 'प्रेमवश' बुला लेते थे। पर वहाँ जाकर मैं ख़ुश कभी न हो सका, क्योंकि उनका परिचय कराने का ढंग वही पहले दिनवाला-जैसा होता था और अब मिस्टर मित्रा और मिस्टर कौल की स्थिति में मैं अपने को पाता था। लेकिन इस सामाजिकता से उन्हें स्पष्टतः लाभ था। मिसेज़ बख्शी इधर ज़रूर कभी-कभी एकाध दिन या रात के लिए ग़ायब हो जाती थीं, पर उनके घर में चीज़ों की संख्या बढ़

रही थी। छः महीनों के अन्दर-अन्दर उनके यहाँ रूम-कूलर, रेफ़्रिजरेटर और ऐसी ही कुछ दूसरी चीज़ें आ गयीं। चीज़ें आ गयीं, यह भी ठीक, पर इतने से ही उन्हें सन्तोष न होता। वे अक्सर हमें चिढ़ाते यह कह कर - “आप भी ख़रीद लीजिए न एक। इतना पैसा बचा कर क्या करेंगे?” सुन कर मेरे मुँह में गाली आ जाती, जी में आता कि उधेड़ कर रख दूँ बखिया, लेकिन फिर यह सोच कर चुप हो जाता कि पागलों से क्या मुँह लगना - बेचारे दया के पात्र हैं; पड़ा रहने दो आवरण, जब तक रख सकें; अन्त में तो उसे हटना ही है, उन्हें निरावरण होना ही है - ऐसे झिलमिले आवरण से वे कब तक ढँक सकेंगे अपनी लाज?

पर आज मुझे मालूम हो गया है कि इस नाइलोन के युग में आधुनिकता-पसन्द लोगों के घृणित चरित्र का आवरण भी नाइलोन का ही है - पारदर्शक! वे निश्शंक भाव से नाइलोन ओढ़ते हैं और अपनी नग्नता के लिए लजाने की बजाय पूछते हैं - “अच्छा लग रहा है न?” इसीलिए इला और मैंने आज निश्चय किया है कि हम मकान बदल लेंगे - अपनी नग्नता के लिए उन्हें लाज नहीं आती, तो न आए, हमें तो आती है और इसलिए हमें उनके सामने से हट जाना चाहिए।

ऐसा क्या हुआ आज? बताता हूँ।

आज दोपहर में मिस्टर बख्शी आकर मुझसे कहने लगे कि

शाम को उनके एक अमेरिकन मित्र और उनकी पत्नी चाय पर आ रहे हैं, इसलिए मुझे भी चाय वहीं पीनी होगी। पहले तो मैंने टालना चाहा, पर वे ज़िद करने लगे कि वह अमेरिकन छः-सात साल पहले दिल्ली आया था और तभी से उनका मित्र है - इतना निकट का मित्र है कि कुछ न पूछिए। कितनी ही चीज़ें उसने अमेरिका से भेजी हैं इनके लिए। वह तो इन पर बहुत ज़ोर डाल रहा है अमेरिका चलने के लिए, पर कुछ कठिनाइयों की वजह से यही 'हाँ' नहीं कर पा रहे हैं। अपने ऐसे मित्र से भला वे मुझे कैसे न मिलाएँ। सो, अन्त में मुझे राज़ी होना पड़ा।

निश्चित समय पर अमेरिकन दम्पति आये और मुझे बुलाया गया। परिचय की रस्म अदा की गयी और तब बातचीत आरम्भ हुई। मैं उनसे उनके देश और जीवन के बारे में पूछता रहा और वे मुझसे यहाँ के बारे में पूछताछ करते रहे। बख्शी-दम्पति भी बड़े उल्लास से वार्तालाप में योगदान करते रहे, चुटकुले सुना-सुना कर ठहाके लगाते रहे। चाय-नाश्ता साथ-साथ चल रहा था।

चाय का क्रम उस समय लगभग समाप्ति पर था, जब शामू ने आकर धीरे से मिसेज़ बख्शी के कान में कुछ कहा। मिसेज़ बख्शी उठ कर बाहर गयीं और जब उन्हें लौटने में थोड़ी देर हुई, तब मिस्टर बख्शी भी किसी बहाने से स्थिति की टोह लेने के लिए कमरे से बाहर निकल गये। कमरे में बाक़ी बच गये केवल

अमेरिकन-दम्पति और मैं।

अब अमेरिकन सज्जन मिस्टर हारपर ने बख्शी-दम्पति की प्रशंसा करते हुए मुझसे जो-कुछ कहा, उसका सारांश इस प्रकार है - "सचमुच भारतीयों के आतिथ्य का कोई मुक़ाबला नहीं है। इनकी इन्हीं बातों से तो भारत की उच्च संस्कृति का पता चलता है। कल शाम कनॉट प्लेस के हैंडिक्राफ़्ट एम्पोरियम में बख्शी-दम्पति से मुलाक़ात हुई और इन्होंने आज चाय पर आने के लिए हमें विवश किया। बिना किसी जान-पहचान या स्वार्थ के इस तरह स्वागत-सत्कार करना केवल भारत में ही सम्भव है, और कहीं नहीं।"

सुन कर, कह नहीं सकता, मेरी क्या दशा हुई। मिस्टर बख्शी की सात साल पुरानी मैत्री का यह अन्तरंग परिचय मेरे लिए एकदम ही कल्पनातीत था। इतना झूठ किसलिए? क्या केवल दूसरों पर या कि मुझ पर यह रौब डालने के लिए कि विदेशियों से भी उनके सम्बन्ध हैं और वे साधारण नहीं हैं! हद हो गयी हीनता की भावना की। फिर भी, मैंने चुप रहना ही उचित समझा - क्यों आवरण हटाओ किसी का। पर हारपर-दम्पति के जाने के बाद जब मिस्टर बख्शी ने मुझसे पूछा कि उनके अमेरिकन मित्र मुझे कैसे लगे, तब उनके शब्द मुझे चिढ़ाते हुए-से प्रतीत हुए और मैंने आवेश में आकर उन्हें निरावरण कर दिया, कह दिया - "बहुत अच्छे लगे। लेकिन वे शिकायत कर रहे थे कि उनके पत्रों का आप जवाब नहीं

देते। बेचारे प्रतीक्षा करते-करते थक जाते हैं।”

सुन कर मिस्टर बख्शी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। इस उत्तर की उन्होंने कल्पना भी नहीं की होगी। पर उस ख़ानाबदोश गड़रिया लड़की की तरह अपने फट कर तार-तार हुए आवरण का मोह उनमें भी तुरन्त ही जाग उठा; दो क्षण उपरान्त ही एक बेशर्मी की हँसी हँसते हुए उन्होंने जवाब दिया - “बड़ा मज़ाकिया आदमी है वह - बातें ख़ूब बनाता है। यह तो गनीमत समझिए कि उसने यह नहीं कहा कि मेरी-उसकी कोई जान-पहचान ही नहीं है।”

मुँह चिढ़ाता आईना

आठ बजे कोई पन्द्रह मिनट हो चुके थे, पर बस ज्यों-की-त्यों खड़ी थी। ड्राइवर सामने की पान की दुकान पर खड़ा, सिगरेट के क़श लेता हुआ, अपने एक साथी से हँस-हँस कर बातें कर रहा था। कंडक्टर भी यात्रियों को टिकट दे चुकने के बाद बस के इर्द-ग़िर्द मँडरा रहा था।

बरसाती ऊमस के दिन। दस घंटे की यात्रा। यात्री सोच-सोच कर परेशान।

मेरी बगल में बैठे युवक बड़बड़ाये - “ई राज ट्रांसपोर्टवाले! घड़ी बेकारे दिया है इनको! ख़ोलने में ही एतना टाइम लगा दिया!”

इस पर टिप्पणी की एक देहाती सज्जन ने - “अरे खुलहूँ के बाद का गारंटी कि पहुँच ही जाई राँची? पचीस-पचास माइल जाके चक्का पंचर हो जाई, आउर तब कह दीहें कि जैक काम नइखे करत - दोसरा बस धरीं। एही तो बा हाल!”

तभी बगल में खड़ी एक बस ख़ुल गयी। नारियल की गिरी बेचनेवाला लड़का बस के साथ-साथ झपटने लगा अपने ग्राहक से पैसे लेने के लिए। मूँगफलीवाले ने भी अपने ग्राहक से पहले पैसे

लिये और तब तराज़ू की मूँगफली उड़ेली उसके रुमाल में। जो चल पड़ा, उसका क्या भरोसा?

यात्रियों की कोफ़्त और बढ़ गयी।

“अरे, ई ख़ोल काहे नहीं रहा है? देखिए जरा, ऊ बिहार के गाड़ी ठीक सवा आठ बजे ख़ुल गया। ... मोसाफिर, डेराइवर, कंडक्टर, सब हाजिरे हैं, तब अबेर काहे कर रहा है अभागा सब?” एक तीसरे सज्जन की खीझ फूटी। बिहार शरीफ़ के यात्रियों के सौभाग्य से उन्हें ईर्ष्या हो रही थी।

इसी समय अख़बार बेचनेवाला एक लड़का “इंडियन नेशन, सर्चलाइट, आयावर्त” की हाँक लगाता, मुसाफ़िरों को आशापूर्ण दृष्टि से ताकता, खिड़कियों के पास से गुज़रने लगा। पर लोगों का ध्यान न तो उसकी ओर था और न पास की पान-सिगरेट की दुकान की चहल-पहल की ओर। सब बेज़ार थे अपने ही हाल पर।

अब तक मिस्त्री-टाइप एक यात्री को तीसरे सज्जन के सवाल का जवाब सूझ गया था, ज़रा तैश में ही बोले - “अरे, तब ओभरटैम कइसे बनेगा, हम न चीन्हते हैं इनका नस-नस!”

खिड़की के पास ही बैठे थे एक भारी-भरकम सज्जन। शायद सिपाही थे पुलिस महकमे में - सादी पोशाक में जा रहे थे कहीं। ओवरटाइम के नाम से जैसे ख़ून ख़ौल गया उनका, चिल्ला

पड़े - “ए हो कंडट्टर साहब! मटरगस्ती का कर रहे हैं आप लोग? ख़ोलते काहे नहीं? हम लोग का अबेर हो रहा है आउर आप लोग का ओभरटाइमे नहीं पूरा हो रहा है?”

कंडक्टर ने मुड़ कर सिपाहीजी को देखा, फिर जैसे उनके डीलडौल से प्रभावित हो गया हो, नम्रतापूर्वक बोला - “बस, पाँच मिनिट!”

“पाँच मिनिट? अरे, अब काहे का पाँच मिनिट? केतना अबेर तो पहिले ही हो गया!” सिपाहीजी ने कुपित स्वर में कहा।

“टेलीफोन आया है। एगो रिजब पसिंजर आ रहे हैं। बड़का आदमी हैं।”

“बड़का अदमी? हुँह! बड़का अदमी कहीं बऽस में चलता है?”

“अरे भाई, लीडर हैं लीडर। पहिले एमेले भी थे। नहीं रोकेंगे, त जानते हैं न, नौकरिये खा जाएगा। एही सबका न राज है?” कंडक्टर ने अपनी लाचारी बता दी।

“हुँह, ई सुराज का हुआ ... “ सिपाहीजी मन मसोस कर रह गये।

“अइसने-अइसने लोग का हाथ में न राजकाज है! बिलरा के भागे सिकहर टूट गया है - चाहे जेतना खा, जेतना जियान कऽरऽ।” - किसी ने टिप्पणी की।

“अरे, त इजतो न ओइसा ही मिल रहा है। चारों तरफ़ थू-थू! नेता तो रहे गाँधी बाबा, जँवाहिरलाल, रजिन्नर बाबू - अपना जान चला जाए त चला जाए, बाकि दोसरा किसी को नोक्सान न पहुँचे। अब है ठीक उल्टा - सबका जान चला जाए त चला जाए, अपना नोक्सान न होय। जा ससुर, मऽरऽ सब। जनतो ठेंगो बराबर नहीं पूछेगा।” एक वृद्ध सज्जन ने अपना मन्तव्य प्रकट किया।

तभी दो व्यक्ति बस में दाख़िल हुए। उनमें से एक ने खद्दर की धोती, कुर्ता और खादी सिल्क की बंडी पहन रखी थी। सिर ख़ाली था। उम्र होगी यही कोई पैंतीस साल। यही नेताजी थे। वे जाकर अपनी रिज़र्व सीट पर बैठ गये। दूसरे सज्जन पहनावे से देहाती दीखते थे और शरीर से कसरती पहलवान। हाथ में एक एयरबैग था, जो निश्चय ही नेताजी का था। पीछे-पीछे चल कर उन्होंने बैग नेताजी की सीट के नीचे रख दिया, फिर बोले - “अभी पान लेते आते हैं। सिगरेटो लावेंगे न?”

“हाँ, एक पैकेट कैप्सटन ले लीजिएगा।”

अब तक ड्राइवर अपनी सीट पर बैठ चुका था, कंडक्टर भी गाड़ी में आ गया था। हम सोचने लगे थे कि गाड़ी अब चलेगी। पर तभी पहलवानजी का आदेश हुआ “डरेबर साहेब, तनी रुकिएगा पाँच मिनिट। अब्भी आते हैं।” और मस्ताना अंदाज़ से वे गाड़ी से बाहर चले गये।

कोफ़्त तो सबको हो रही थी, पर करते क्या? जहाँ सेर, वहाँ सवा सेर - पाँच मिनट और सही! पहलवानजी पूरे आठ मिनट बाद पान की दुकान से लौटे और खिड़की से ही नेताजी को पान-सिगरेट देने लगे। हमारी तरह कंडक्टर ने भी समझा कि सिर्फ़ नेताजी ही जाएँगे - पहलवानजी उन्हें छोड़ने-भर आये हैं। अतः उसने पूछ लिया - “अब बढ़ावें गाड़ी?”

पहलवानजी को ग़ुस्सा आ गया, आँखें तरेर कर बोले - “आउर हम का जाएँगे पैदले? दु मिनिट थमा नहीं जाता?”

कंडक्टर बेचारा चुप।

पहलवानजी पुनः पान की दुकान तक गये और पीली पत्ती ज़र्दा लेकर तीन-चार मिनट में लौट आये। गाड़ी में घुसते-घुसते उन्होंने कंडक्टर को हुक़्म दिया - “हाँ, ख़ोलो अब।”

हरी झंडी मिल गयी, तो ड्राइवर ने इंजन को गुड़गुड़ाना शुरू किया और पहलवानजी नेताजी की बगल में जा विराजे।

बस ख़ुलते ही यात्रियों ने अपने-अपने बगलवालों को छेड़ना शुरू किया रास्ते को आसान बनाने के लिए। मेरे बगलवाले युवक ने भी मुझे कुरेदा - “कहाँ जाएँगे आप?”

“राँची।”

“राँची कितने बजे पहुँचेगी बस?”

“पता नहीं, वैसे पाँच बजे पहुँचना चाहिए।”

“आप पटने रहते हैं?”

“हाँ।”

“क्या करते हैं?”

“अभी तो बेकार हूँ।”

“ओ, समझ गया। आप नौकरी खोजने जा रहे हैं राँची। अगर हैवी इंजीनियरिंग में काम हो, तो बताइएगा। हमारे बहनोई हैं वहाँ। वो तो कह रहे थे, बेकार एम. ए. पढ़ कर क्या करोगे - चलो, नौकरी दिला दें। बाकी हम बोले - अभी नहीं। उनका पता दे दें आपको?”

मैंने उन्हें बताया कि मैं नौकरी ढूँढ़ने नहीं, अपने एक रिश्तेदार के यहाँ जा रहा था किसी और काम से। बेचारे निराश हो गये। कुछ देर बाद मेरे हाथ की पुस्तक की ओर हाथ बढ़ाते हुए बोले - “कौन किताब है?”

मैंने पुस्तक उनकी ओर बढ़ा दी और वे उसे ख़ोल कर देखने लगे।

मेरे पीछे की सीट पर बैठे सिपाहीजी अपने बगलवाले देहाती सज्जन को राजनीति की गुत्थियाँ समझा रहे थे - “हमको तो सब लिडरवन से न पाला पड़ता है! सबका दिल का हाल मालूम है हमको। राजा साहेब सास्त्रीजी के सरकार काहे तोड़वा दिये? अरे भाई, खानदानी राजा के राजनीति बतावेगा मामूली अदमी? राज

चलता है साम, दाम, दंड आउर भेद से। एही बात बोलिन राजा साहेब। मगर सास्त्रीजी सीधा अदमी, बोलिन - नहीं भेद-उद नहीं चलेगा हमसे। चुपका-चोरी हम किसी को कुछ नहीं देंगे। सरकार रहे चाहे जाए। तब राजा साहेब भी बोल दिहिन कि तब हम नहीं जानें कुछ - हम लोग का पाटी से कइएक ठो अदमी को फोड़ लिया है काँग्रेस। अब जइसा आप ठीक समझें, करिए। हमको दोस मत दीजिएगा। ई भितरिया बात बता रहे हैं आपको। अखबार में तो अटर-पटर छापबे करता है सब - घाव कहीं, पौ कहीं। एही से न हम कहते हैं - राजपाट करना होय त राजबंस को लाइए आगे। काम तभी चल सकता है। ... "

बस में एक-एक कतार में पाँच-पाँच सीटें थीं - एक दो सीटर और एक तीन सीटर। दोनों के बीच से पैसेज था। हमारी बगलवाली तीन-सीटर पर बैठे थे एक नौजवान और दो ग्रामीण। नौजवान खिड़की की बगल में बैठा काला चश्मा पहने एक फ़िल्मी पत्रिका पढ़ने में लीन था। बाक़ी दोनों ग्रामीण अपने मुखिया की मनमानी की निन्दा कर रहे थे। पढ़ा-लिखा जान कर गाँववालों ने एक नौजवान को उसके बाप की मृत्यु होने पर मुखिया बना दिया था। पर वह बढ़ाबढ़ी कर रहा था। गाँव में नाली बनवाने के लिए उसने गाँववालों पर चन्दा बैठा दिया था, इसलिए इन लोगों ने भी तय कर लिया था कि फिर कभी उसे मुखिया नहीं बनाएँगे। गाँव के

दूसरे लोगों का भी, उनके कथनानुसार, यही विचार था। सरकार का काम सरकार करे और जनता का काम जनता - वे इस बात के कायल थे। सड़क और नाली बनवाना सरकार का काम था, न कि जनता का। जनता के पास इतने पैसे कहाँ कि इन बेकार के कामों पर ख़र्च करे और सरकार हाथ पर हाथ रख कर तमाशा देखे। उनके विचार में, ऐसे ही कामों से सरकार को शह मिल रही थी।

अचानक एक वाक्य पूरी बस में गूँज गया - "हम भी उस साले को बता देंगे। समझा क्या है उसने हमको?" मिस्त्रीजी ने आवेश में आकर अपना यह वाक्य सर्वव्यापी बना दिया था। सबकी आँखें उनकी ओर उठ गयीं, तो बेचारे सकपका गये - उनका स्वर धीमा पड़ गया।

मेरे सामने की सीटों पर थे नेताजी और पहलवानजी और उनसे आगे की सीटों पर बुशशर्ट पहने एक गम्भीर युवक तथा सहमा-सहमा-सा एक मैला-कुचैला ग्रामीण युवक। बुशशर्टवाले सज्जन के हाथ में एक पुस्तक ख़ुली थी। बातचीत में वे भी लगभग मेरी ही तरह थे। उनकी भी आवाज़ अब तक किसी ने न सुनी थी। पैसेज के दूसरी ओर की तीन-सीटरों में से प्रथम दो महिलाओं के लिए सुरक्षित थीं। पर चूँकि महिलाओं की संख्या केवल चार थी, इसलिए दूसरी तीन-सीटर की महिला के साथ दो देहाती युवक भी बैठ गये थे।

अख़बार पढ़ते-पढ़ते नेताजी अचानक बोल पड़े - "यह सरकार टूट गयी, अच्छा ही हुआ।"

"का कहते हैं, हुजूर? ई तो अप्पने सरकार थी - युनैटेड फ्रंट की!" पहलवानजी विस्मय से भर उठे थे।

"हाँ, सरकार तो अपनी ही थी। पर बात अब बनेगी।" नेताजी ने गुरुगम्भीर स्वर में उत्तर दिया।

"ई कइसे, हजूर? अब तो कँग्रेसिया सरकार बनेगी। आप का काँग्रेस में जा रहे हैं?" पहलवानजी नेताजी का मुँह देखने लगे।

"नहीं जी, उसमें क्यों जाऊँगा? मैं क्या कोई डिफ़ेक्टर हूँ? छोड़ दिया, तो छोड़ दिया - अब क्या जाना उसमें?"

"ओही तो। हम सोचे कि कहीं आप सोचते हों कि काँग्रेस के टिकट पर खड़ा हुए थे, त जीत गये आउर युनैटेड फ्रंट में हार गये। इसीलिए ... "

"अरे नहीं भाई, हार-जीत तो लगी ही रहती है। उससे कौन घबड़ाता है?"

"त फिन कँग्रेसिया सरकार बने से काम कइसे बनेगा?"

"अरे, अब कोई सरकार नहीं बनेगी यहाँ। अब होगा प्रेसिडेण्ट रूल। उसके बाद होगा नया चुनाव। ... इस बार मैंने सोचा है कि आपके इलाक़े से ही खड़ा होऊँगा। वोट मिल जाएगा न आपके यहाँ?" नेताजी की दृष्टि पहलवानजी के चेहरे पर टिक

गयी।

“भला पूछा आपने भी! मिलेगा काहे नहीं? आउर नहीं मिलेगा, त हम न दिलावेंगे डंटा के जोर से। ... बाकी एक बात है। ... अगर ई काम बन जाए, त सब काम फटाफट हो जाए!”

“कौन काम?”

“एही, बी. डी. ओ. वाला! ई सारे को हटवा दीजिए न, त पाँचों घीऊ में। चीनी, राशन, लोन, सब्भे में कानून बतियाता है। अब बताया न आपको! रामासीस बाबू एतना बड़ा किसान! उनको बेइज्जत कर दिया लोन-ओसूली में! ख़ोल ले आया बछड़ा! एक हजार रुपइया के खातिर ई बेइज्जती? रामासीसो बाबू कसम खा लिहिन हैं कि हटवा के रहेंगे पाजी के! बाकी एस. डी. ओ. न हाथ रखे हुए है उसका पीठ पर! कहता है, बी. डी. ओ. जो कुछ किया, ठीक किया!”

“ऐं? क्या कहता है? ठीक किया? कौन है एस. डी. ओ.?” नेताजी की भृकुटी तन गयी।

“नया-नया आया है। लौंडा तो हइए है। रामासीस बाबू कहते थे कि आइएस है। किसी को पुट्ठे पर हाथे नहीं धरने देता है। रामासीस बाबू को भी भगा दिया। उस पर भी खार खाये बैठे हैं रामासीस बाबू। एही से न कहते हैं कि रामासीस बाबू खुस हो जाएँ, त कउन बात के कमी? रुपइयो देंगे आउर भोटो दिलावेंगे। दस-बीस

हजार उनके लिए कुछ है भला?”

“आप निश्चिन्त रहिए। वोट न भी मिले, तो यह काम तो हमें करना ही है। ये अफ़सर, पता नहीं, क्या समझते हैं अपने-आपको! दिमाग़ हमेशा आसमान पर ही रहता है। चार टके के नौकर और लाख रुपये के आदमी की इज़्ज़त उतार लें? यह भी कोई बात हुई? बी. डी. ओ. को तो मैं बदलवा ही दूँगा, और ज़रूरत हुई तो एस. डी. ओ. को भी। फ़िक्र न कीजिए।” - नेताजी ने पहलवानजी को आश्वासन दिया।

“त फिर अपना जय समझ लीजिए। हम भी आपको वादा करते हैं, आप ज़रूर जीतिएगा।”

नेताजी का उत्साहवर्द्धन हुआ, बोले - “देखिए न अभी। सीधे ब्लॉक ही चलूँगा आपके साथ। जहाँ आँय-टाँय की कि रिपोर्ट भी कर दूँगा और ख़बर भी छपवा दूँगा अख़बारों में। सारी बी. डी. ओ. गीरी धरी रह जाएगी। मैंने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेलीं।”

“एही उम्मीद से तो हम आये थे आपके पास। हमको पूरा भरोसा था।” - पहलवानजी एक पल रुके, फिर बोले - “आज रात को लेकिन लौटना नहीं पड़ेगा आपको। रामासीस बाबू के हियाँ सब परबन्ध है।”

“यह ठहरने की ज़िद, भाई, छोड़िए। बहुत काम है मुझे। समझे?”

"अब देखिए, इतना बिनती तो मान ही लीजिए हमारी। काम रात-भर नहिंए होगा, त ऐसा का नोक्सान हो जाएगा? कउन रोज-रोज आना होता है आपका!" पहलवानजी इस तरह बोल रहे थे, जैसे अखाड़े में चारों खाने चित पड़े हों!

"अच्छा भाई, जैसा आप कहें। आपकी राय के ख़िलाफ़ थोड़े ही जा सकता हूँ।" नेताजी ने पहलवानजी को मानो अभयदान दे दिया।

इसी समय बस के पचासों यात्रियों का ध्यान उस अपटुडेट महिला की ओर खिंच गया, जो बैठी तो लेडीज़ सीट पर थी, पर जिसके साथ दो देहाती भी बैठ गये थे। वह महिला एक-ब-एक तेज़ आवाज़ में बोल पड़ी थी - "इधर सटे क्या आ रहे हो तब से? एक तो लेडीज़ सीट पर आकर बैठे हैं, ऊपर से खिसकते आ रहे हैं। चलो, हटो अलग!"

महिला की बगल में बैठा व्यक्ति यही कोई तीस वर्ष का होगा, निहायत गँवार-सा। दबे स्वर में उसने प्रतिवाद किया - "हम कहाँ खिसक रहे हैं! ओइसे बसवा चलता है, त तनी-मनी त इधर-उधर हिल-डोल हो ही जाता है।"

"उठो, उठो फिर यहाँ से! हिलो-डुलो खड़े होकर! ऐ ... ऐ कंडक्टर साहब, उठाइए इसको यहाँ से। तब से पैर से पैर टकरा रहा था। अब खिसकता आ रहा है। मैं खिड़की में चिपकती जा रही

हूँ और यह दबाता चला आ रहा है।” महिला क्रुद्ध नागिन की तरह फुफकार रही थी।

कंडक्टर पहुँचा वहाँ, बोला - “काहे जी, भला आदमी के तरह बैठने में तकलीफ होता है? चलिए, उठिए, खड़े हो जाइए। छोड़िए लेडीज़ सीट!”

“देखे में तो बेचारा सीधा-साधा लगते हैं, आउर करतब ई?” - एक यात्री ने चुटकी ली!

“जाड़ा के दिन होय, त कोई बातो होय। ई ऊमस में किसको सोहाता है देह में देह लगना!” - एक दूसरे मनचले ने फ़ब्ती कसी।

“अरे, उठ न जाऽ, कि अभी गरमइए चाहीं?” - एक तीसरे यात्री ने व्यंग्य किया।

महिला बेचारी चुप। क्या बोले? चुटकी ली जा रही थी उस देहाती से और चोट पड़ रही थी उस पर। किस-किसका प्रतिवाद करती वह!

देहाती यात्री खड़ा होते-होते बोला - “त खड़े-खड़े जाएँगे पूरा रस्ता?”

“करनीए अइसा करते हैं, त का करे कोई?” - कंडक्टर ने जवाब दिया।

“एक काम न हो सके?” - अपनी बगलवाले यात्री की ओर

इशारा करते हुए देहाती बोला - "ई हमरे जगह बइठ जाएँ आउर हम इनके जगह। ई त भला आदमी होंगे न?"

"अच्छा, चलिए, एही कीजिए!" कंडक्टर ने कहा और दोनों यात्रियों ने परस्पर स्थान-परिवर्तन कर लिया। तभी बस रुक गयी। आगे कई ट्रक, बसें और कारें खड़ी थीं। बिहार शरीफ़ वाली गाड़ी के पीछे हमारी बस खड़ी हो गयी।

"लेओ, पकड़ा गया ई भी। बड़ी जल्दी-जल्दी भागा था!" एक यात्री ने ख़ुश होते हुए कहा।

तभी पहलवानजी ने सवाल किया - "का हुआ, डरेबर साहेब?"

"रस्ता पर पेड़ गिरा है!" उत्तर मिला।

"ऐं, पेड़ गिरा है? तब हो गया राँची आउर हजारीबाग। अब बैठिए पाँच घंटा!" एक यात्री बोले।

दूसरा बोला - "हम बोलले न रहीं, ई राज ट्रांसपोट के कउनो भरोसा बा?"

"अब का जानी कब कटी पेड़!" तीसरा यात्री।

"लगता है, राते के अँधिया में गिरा है।" चौथा यात्री।

"देखें जरा, का हाल है!" बोल कर सिपाहीजी बस से उतरने लगे। उनसे पहले ड्राइवर और पाँच-छः यात्री उतर कर परिस्थिति का जायज़ा लेने जा चुके थे। सिपाहीजी के पीछे-पीछे

चार-पाँच और यात्री उतर गये। बुशशर्टवाले नौजवान भी उतर गये उनके साथ। बाक़ी लोग इंतज़ार करने लगे उनके लौट कर आने और रिपोर्ट देने का।

नेताजी और पहलवानजी का वार्तालाप पुनः आरम्भ हो गया।

पहलवानजी ने कहा - "हमको ई सुबहा पहिले से ही था। दस-दस गो पाटी मिलके सरकार कइसे चलावेगा?"

"नहीं, उसमें कोई बात नहीं है।" - नेताजी ने प्रतिवाद किया - "सब मिल कर अपना एक कार्यक्रम तैयार कर लेते हैं और उसी को काम में लाते हैं। इसलिए दस तो क्या, पचास पार्टियाँ भी मिल कर सरकार चला सकती हैं।"

"सिधान्त तो ठीके है ई। बाकी ... अब देखिए न, ई परजा सोसलिस्ट, एस. एस. पी., सोसित दल, क्रान्ति दल, काँग्रेस, ई सब एक्के न थे पहिले। ओइसहीं कमुनिस्टवा सब भी, सुना है, दु-तीन पाटी बना के बैठा है। ई लोग एगो कार्जकरम बनाके आपसे में मेल काहे नहीं करता है? अगर ई मेल नहीं हो सकता, त सरकार कइसे मेल से चलावेगा? है कि नहीं बात?" - पहलवानजी ने अपनी शंका को स्पष्ट किया।

"बात आपकी ठीक है। लेकिन जानते हैं न, हर जगह कुछ बुरे आदमी हैं, जो मेल नहीं होने देते।" - नेताजी बोले।

“त सरकारो में तो ऊ खराब अदमी सब आता ही है न? ऊ कइसे मिलके राज चलाने देगा?”

“दल की बात अलग है और सरकार की अलग। बहुत फ़र्क है दोनों में। आप नहीं समझेंगे।” - नेताजी ने बात टालने की चेष्टा की।

“थोड़ा-बहुत तो समझ में आता है। जइसे सरकार में आमदनी का जरिया है। त उसको तो जल्दी नहीं तोड़ना चाहेगा खरबको अदमी। काहे कि फिन डर रहेगा कि दूसरा पाटीवाला सब सरकार बनाके पइसा बटोरने लगेगा। बाकी सुभाव जल्दी बदलता है? रुपइए लेके लड़ने लगेगा आपस में - ऊ जादे कमा रहा है, हम कम कमा रहे हैं। है कि नहीं?”

“बात आपकी ठीक है कुछ हद तक!” - नेताजी को मानना पड़ा।

तभी दो सज्जन घटनास्थल का निरीक्षण कर लौटते दिखाई पड़े। अभी वे दूर ही थे कि बस से एक सज्जन चिल्लाये - “का हाल है, भाईजी?”

“अभी एकाध घंटा लगेगा। गाँववाला सब काट रहा है। सड़क के ठीक बीचोबीच दूठो ठूँठ पेड़ गिर गया है। उधरो आठ-दस गो ट्रक आउर बस खड़ा है दू घंटा से।” - जवाब मिला।

“काट रहा है न? तब कट ही जाएगा आध-पौन घंटे में।”

नेताजी ने अपनी राय ज़ाहिर की।

“पेड़वा गिरा कब?” - एक यात्री ने प्रश्न किया।

“भोरे छौ बजे के करीब।”

“त छौ बजे से कोई काटा नहीं? पी. डब्लू. डी. वालों को खबर नहीं दिया होगा। एही बाते है।”

“खबर देने से भी का तुरन्ते आके काटता है? ऊ लोग आवेगा साँझ तक।”

“फतुहाँ पार कर गये हैं न?”

“हाँ, तीन-चार माइल आगे निकल आये हैं।”

“चलिए, कट ही रहा है, तब का परवाह?”

इसी वक़्त एक अन्य सज्जन लौटे यह घोषणा लेकर - “गाँववालों से कटे-उटेगा नहीं। पी. डब्लू. डी. को खबर करना जरूरी है।”

“त पटना न खबर करना होगा! कइसे होगा खबर?”

“काहे? कोई अदमी फतुहाँ जाके टेलीफोन कर दे।”

“फतुहाँ कोई नजीका है? चार-पाँच माइल जाएगा कौन?”

“एहू ठीके कहते हैं। फिर ई बात भी है कि उधर गये और इधर पेड़ कट गया, तब? तब तो छूट न जाएँगे?”

“आउर टेलीफोन कर देने से ऊ लोग कउन बड़ा तुरंते दौड़े चले आवेंगे? है कि नहीं?”

"ठीके कहते हैं बाबू साहेब!" - किसी ने बात की ताईद की - "जाने दीजिए, अपने आवेगा सब। खबर तो मिलबे करेगा ऊ सबको कोई-न-कोई तरह।"

"तब चार-पाँच घंटा बइठना न पड़ेगा?"

"त का किया जाए? कोई उपाय है?"

अब मुझसे न रहा गया। मन में भय समाया कि कहीं पाँच-छः घंटे की देर हुई, तो रात एक-दो बजे राँची पहुँचूँगा। एक बार रास्ते में बस ख़राब हो गयी थी, तब तीन बजे रात में राँची पहुँचा था। सो, घटनास्थल पर जाकर स्थिति का निरीक्षण करने और कोई उपाय ढूँढ़ने के ख़याल से मैं बस से उतर पड़ा।

कोई एक फ़र्लांग की दूरी पर दो ठूँठ पेड़ सड़क के आर-पार लेटे थे और आठ-दस ग्रामीण उन पर चढ़े कुल्हाड़े से सूखी लकड़ियाँ काट रहे थे। इधर-उधर दो-दो तीन-तीन के झुंड में तीस-पैंतीस यात्री, ड्राइवर, कंडक्टर खड़े कानाफूसी कर रहे थे।

मैंने अलग खड़े एक व्यक्ति से कहा - "ये लोग पेड़ कहाँ काट रहे हैं? ये तो किनारे-किनारे की सूखी लकड़ी काट रहे हैं जलावन के लिए।"

उत्तर मिला - "इन दरख्तों को काट कर रास्ते से हटाने का दो सौ रुपये माँगते हैं, कहते हैं - इतने ट्रकवाले हैं, यात्री हैं, दो सौ रुपये जमा करना कौन मुश्किल है!"

तभी मुझे बुशशर्टवाले युवक दिखाई पड़ गये। वे दोनों वृक्षों की बारम्बार परिक्रमा करके उनका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर रहे थे। मैं उनके पास पहुँचा, तो स्वगत भाव से बोले - "हटाया क्यों नहीं जा सकता? सूखे पेड़ हैं। पचास-साठ आदमी लग जाएँ, तो ... "

"हाँ, एक ओर से ठेल कर इन्हें किनारे किया जा सकता है।" उनका समर्थन करते हुए मैंने पास ही खड़े दो-तीन ग्रामीणों को पुकारा - "ज़रा सुनिएगा, भाईजी।"

वे पास आ गये, तो मैं बोला - "हम लोग इसे ठेल कर एक ओर क्यों न कर दें? घंटों बैठने से तो यही अच्छा होगा कि पचीस-पचास आदमी मिल कर इन्हें पार लगा दें।"

"बहुत भारी है। टस-से-मस नहीं होगा।" - एक ग्रामीण ने कहा।

दूसरा बोला - "ई कोई हम लोग का काम है? आवे अपना पी. डब्लू. डी. वाला!"

बुशशर्टवाले सज्जन बोले - "लेकिन देर तो हम लोगों को ही हो रही है। पी. डब्लू. डी. वालों को क्या जल्दी पड़ी है? फिर, उन्हें ख़बर भी दी गयी है या नहीं, कौन जाने?"

"हाँ भाई, नुक्सान तो हम लोगों का ही हो रहा है!" - मैंने कहा।

“अब होय नोक्सान त होय। हम का करें? ई सरकार के कोई काम जे ठीक होय। सत्यानास कर दिया।” और तीनों अलग हट गये।

वे बोले - “देख रहे हैं न हाल?”

“हद है ज़हालत की!” - मैंने कहा - “चलिए, अपनी बस के यात्रियों को आज़माएँ। मेरा ख़याल है, पचीस-तीस आदमी भी लग जाएँ, तो काम हो जाएगा।”

“चलिए, देख लें उन्हें भी।” - उन्होंने कहा और हम अपनी बस की ओर बढ़े।

वहाँ पहुँचते ही प्रश्न हुआ - “अब केतना देरी है?”

“जितनी पहले थी। पेड़ों को कहाँ कोई काट रहा है? वे तो जलावन की लकड़ी निकाल रहे हैं एक सिरे से!” - बुशशर्टवाले ने जवाब दिया।

“ऐं? पेड़ नहीं कट रहा है?” - नेताजी चौंके - “हम आधे घंटे से सोच रहे हैं कि पेड़ कट रहा है और वह कट ही नहीं रहा है? सब कमीने हो गये! ... कौन ब्लॉक पड़ेगा जी?” उन्होंने पहलवानजी से पूछा।

“ई तो फतुहें ब्लौक होगा।”

“हुँ, ये बी. डी. ओ. सब जगह एक-से हैं। हम लोग यहाँ फँसे हैं और ... कोई फ़िक्र थोड़े है जनता की!” - वे एक पल को

रुके, फिर पहलवानजी से बोले - “देखिए, एक काम कीजिए आप। ... ज़रा चले जाइए फतुहा और बी. डी. ओ. को हाल दीजिए, कहिए कि मैंने बुलाया है!”

यह क्या बला आ गयी सिर पर? पहलवानजी घबराये, बोले - “आउर कहीं बी. डी. ओ. न होय, त?”

“हुँ, नहीं हो, तो ... नहीं हो, तो एस. डी. ओ. को कहिए - आध घंटे के अन्दर सड़क साफ़ होनी चाहिए।” पूरे अधिकार के साथ नेताजी ने हुक़्म जारी किया।

“लेकिन एस. डी. ओ. तो पटना में होगा। सदर में न पड़ेगा फतुहाँ!”

पहलवानजी के उत्तर से नेताजी ठंडे पड़ गये, बोले - “उँह, बड़ी मुश्किल है। सब साले दौरा बनाने के चक्कर में रहते हैं। काम-धाम साढ़े बाइस और टी. ए. बिल ढेर-का-ढेर!”

“हम लोगों का एक सुझाव था!” - बुशशर्टवाले सज्जन ने सहमते-सहमते कहा - “अगर हम कुछ नौजवान हिम्मत करें, तो पेड़ रास्ते से हट सकते हैं!”

“हट जाएगा?” - नेताजी उछल पड़े - “तब फिर सोच क्या रहे हैं? लगा दीजिए हाथ! हिम्मते मर्दा ... “

“फिर, चलिए न!” - मैंने कहा।

“ऐं? का बोले? ई जाएँगे पेड़ ठेलने? चीन्हते नहीं हैं

इनको? कह दिया, चलिएऽ न!” - पहलवानजी ने अपनी भूमिका निभायी।

“नहीं, मैं चल कर खड़ा हो जाता हूँ वहाँ। जनसेवा तो काम ही है हमारा!” - नेताजी अपनी सीट से उठते हुए बोले।

“ओह, तब पेड़ ज़रूर हट जाएगा। आऽप खड़े हो जाएँगे, तब फिर का बात है? सब हाथ लगा देंगे।” पहलवानजी भी उठ खड़े हुए। अब उन्होंने बस में बैठे सब यात्रियों को आदेश दिया - “चलिए-चलिए, उठिए सब लोऽग! देखते नहीं, केत्ता बड़ा काम होने जा रहा है? दस घंटा बैठिएगा, इससे अच्छा न होगा कि पाँच मिनिट में रस्ता साफ हो जाएगा। ... अरे, बइठे का हैं? उठिए न। चलिए सब।”

और मारे भय के या देखादेखी, बस में बैठे सभी पुरुष उठ खड़े हुए।

अब आगे-आगे नेताजी और पहलवानजी, और पीछे-पीछे हम लगभग पच्चीस आदमी। जुलूस चल पड़ा धर्मक्षेत्र की ओर।

वहाँ पहुँच कर हमने एक पेड़ को एक सिरे से ठेलना शुरू किया। बुशशर्टवाले सज्जन मेरी बगल में ही पूरी ताक़त से पेड़ को ठेल रहे थे। धीरे-धीरे पेड़ खिसकने लगा। देखा-देखी तीस-चालीस और लोगों ने भी हाथ लगा दिया। सामने खड़े नेताजी और पहलवानजी के चेहरों पर प्रसन्नता नाच रही थी। यह या तो नेताजी

की उपस्थिति का फल था या हम साठ-पैंसठ लोगों के परिश्रम का - पेड़ का तना इस तरह फिसलने लगा जैसे पानी में नाव।

कोई पाँच-छः मिनट में तना एक किनारे हो गया, तो हम दो पल साँस लेने को खड़े हो गये। बुशशर्टवाले सज्जन ने अपने माथे का पसीना पोंछते-पोंछते मुझ पर एक मुस्कुराती नज़र डाली। मैंने कहा - “इस विजय का सेहरा आपके सिर!” उन्होंने अपने मुँह पर एक उँगली रख तुरंत कहा - “श् श् श् श् ... नेताजी पास ही खड़े हैं।” मेरे अधरों पर भी व्यंग्य की एक मुस्कान खेल गयी।

दूसरा तना उतना भारी न था। तीन-चार मिनट में ही किनारे लग गया और तब पहलवानजी ने पूरा गला फाड़ कर नारा दिया - “नेताजी की ... “ लेकिन कृतघ्न लोग! ’जय’ किसी ने न कही। सब अपने-अपने कपड़े झाड़ने में लगे रहे। नेताजी और पहलवानजी के चेहरों पर तनिक मायूसी छा गयी। वे बस की ओर चल पड़े।

यात्रा पुनः आरम्भ हुई, तो लोगों की वार्ता का क्रम चालू हो गया।

पहलवानजी नेताजी से बोले - “अगर आप न होते, तो यह काम होनेवाला नहीं था।”

नेताजी ने केवल मुस्कुरा दिया।

“बाकी एक कसर रह गया।” - पहलवानजी ने बड़ी

संजीदगी से कहा - “अगर कोई फोटोवाला होता, त आपसे भी हाथ लगवा के एगो फोटो खिंचवा लेते। है कि नहीं?”

“अब जो हो गया, सो हो गया।” - नेताजी बोले।

“हाँ, सो तो हइए है।” पहलवानजी दो पल कुछ सोचते रहे, फिर बोले - “ऊ बुशशर्टवाला। लगता है, उसको कहीं देखा है। ठीक इयाद नहीं पड़ रहा है। ... लेकिन बच्चा के पता चल गया पेड़ ठेलने में! ... उज्जर दपादप बुशशर्ट के का हाल हो गया पसेना से! जइसे मजूरी कर के आ रहा होय!”

नेताजी फिर मुस्कुरा दिये।

उधर सिपाहीजी बोल रहे थे - “भारी कम नहीं था। बाकी हमहुँ बोले कि देख लेंगे सारे को। ई देह में तेल पिलाया है कउन दिन के लिए। ... अरे, जब हम अखाड़ा में उतरते थे, त बड़ा-बड़ा पहलवान को पसीना छूट जाता था। ऊ जब अड़ा न ऊ घड़ी, त राम कसम, का बताएँ, अइसा झटका मारा हम कि हमको तो लगा कि हमारा पखुड़े उखड़ जाएगा, बाकी देखा कि पेड़वे सरिक गया आठ इंची।”

मिस्त्रीजी का कथन कुछ और था - “अरे, अइसन-अइसन पेड़ को हम समझते ही क्या हैं? एक दफे अइसा हुआ कि एगो टैक्सी में जा रहे थे। बस, पता नहीं, का हुआ कि एगो ताड़ के पेड़ ठीक बोनेटवे पर गिर गया चलती टैक्सी के!”

“ऐं, बोनेटवे पर गिर गया? ओही आगेवाला नकवा न जी?”

“हाँ जी, ओही बोनेटवे पर।”

“ई जरूर कोई बान मारा होगा। एक-से-एक ओझा-गुनी अबहियों हैं ई देस में। अब हम आपको का बतावें? एक दफे एगो इस्कूली लड़का जा रहा था पढ़ने। बस, एक-ब-एक्के रस्ता में गिर के घायल पंछी के तरह फड़फड़ाने लगा। मुँह से जे खून के फोहारा चलने गया, त का बतावें, राँची के झरनो सब मात। ... “

“पहिले हमारा बात तो सुन लीजिए।” मिस्त्रीजी ने अपने बगलवाले वृद्ध को टोका।

“रहीं जी, आपका तो सुनेंगे ही। पहिले हमारा ई खिस्सा ... “

“अरे, हम खिस्सा थोड़े ही कह रहे हैं? हम तो आपको सच्चा बात बता रहे हैं ... “

“आउर हम का झूठ बोल रहे हैं? हमहुँ सच्चे ... “

“सच्चे न कपार बोल रहे हैं। राँची के झरना देखबो किया है? मुँह से निकलेगा झरना के तरह खून? ओहू बच्चा के?”

“न, ताड़ गिरता है चलती टैक्सी पर! एतने ही था, त बिच्चे में लोक काहे नहीं लिए? नकवा पर गिरने क्यों दिया?” वृद्ध के इस कथन के साथ ही ज़ोरों का ठहाका लगा।

“आप तो खाली बतंगड़ करते हैं ... “ मिस्त्रीजी खिसियाए हुए-से बोले।

“न, तूँ सिखइबऽ हमराऽ। तोहरे आगे न जनमले रहीं!” वृद्ध का चेहरा ग़ुस्से से लाल हो रहा था।

“ना बाबा, हम ई थोड़े बोले ... “

उनका यह विवाद कहाँ जाकर ख़त्म हुआ, मुझे नहीं मालूम। मुझे थोड़ी झपकी लग रही थी, सो खिड़की से माथा टिका लिया था मैंने। थकावट थी ही, पलक लग गयी और जब आँखें ख़ुलीं, तो देखा, नेताजी और पहलवानजी नीचे उतर कर खड़े हैं। बुशशर्टवाले सज्जन भी उतरने के लिए बढ़ रहे थे। तभी मेरे एक परिचित अफ़सर बस में दाखिल हुए। बुशशर्टवाले सज्जन पर उनकी जो नज़र पड़ी, तो बड़े जोश से बोले - “परनाम सर! पटना से आ रहे हैं?”

बुशशर्टवाले सज्जन ने जवाब में उन्हें हाथ जोड़े, कहा - “हाँ, पटने से ही आ रहा हूँ।” और मुझे भी नमस्कार कर वे नीचे उतर गये।

बुशशर्टवाले सज्जन ने मुझे जो नमस्कार किया, तो अफ़सर महोदय की भी दृष्टि मुझ पर पड़ी - “अरे, आप कहाँ?”

मैंने उन्हें नेताजीवाली सीट की ओर इशारा करते हुए कहा - “ज़रा राँची जा रहा हूँ। आप कहाँ?”

"यही, हज़ारीबाग तक। एक सरकारी काम है।" वे बैठते-बैठते बोले।

"आजकल यहीं पोस्टिंग है क्या?"

"हाँ, साल-भर हो गया।"

दो-चार पल बाद मैंने उनसे पूछा - "ये जो बुशशर्टवाले सज्जन उतरे, कौन थे?"

"उँह, मारिए साले को! नाक में दम कर दिया है!" वे झल्ला कर बोले।

"अच्छा? लेकिन हैं कौन?"

"नया एस. डी. ओ. है यहाँ का!"

"लेकिन उम्र तो बड़ी कम लगती है!"

"हाँ, डाइरेक्ट आइ. ए. एस. रिक्रूट है। ख़ाली कानून छाँटता है। छः महीने में ही नाकों चने चबवा दिये इसने। सब त्राहि-त्राहि कर रहे हैं!"

"यह कैसे?" - मेरी उत्सुक्ता बेहद बढ़ गयी थी।

"अरे, अब यही देखिए न, बस में सफ़र करता है। उसी का टी. ए. भी क्लेम करता है। आपने कहीं देखा है एस. डी. ओ. को बस में घूमते? हम लोगों को भी कहता है, यही करो। ग़रीब देश है। अरे, ऐसे ही तो मर रहे हैं। मँहगाई दिन-दिन बढ़ रही है और तनख़्वाह वही पुरानी। टी. ए. डी. ए. के रूल ऐसे बना दिये हैं कि

अगर सच्चा क्लेम करने लगें, तो आधी तनख़्वाह उसी में निकल जाए। अब इसने देख लिया न मुझको बस में - टैक्सी का बिल पास नहीं करेगा! एक-एक कर्म हैं इसके?”

“तब तो सचमुच बड़ी मुश्क़िल है आपकी?” मैंने उनसे सहानुभूति जतायी।

“सिर्फ़ यही है? ऑफ़िसों में सरप्राइज़ विज़िट देता है। दस बजे नहीं पहुँचे ऑफ़िस, तो आ गयी शामत! ब्लॉकों में भी ऐसे ही चक्कर मारता फिरेगा। बैठ जाएगा गाँववालों के साथ चटाई पर और उनके दुखड़े सुनेगा। गाँववालों को तो आप जानते ही हैं आजकल। झूठ-सच पचास शिकायतें कर डालेंगे अफ़सरों की और यह बस डंडा लेकर पड़ जाएगा उनके पीछे। ... क्या-क्या बताएँ आपको! नया-नया मुल्ला है न, प्याज़ तो ज़्यादा खाएगा ही। ... लेकिन तब हम लोग भी चुप नहीं बैठे हैं। इसको हटवा कर ही छोड़ेंगे हम भी।”

अब मैं क्या कहूँ उनसे? कुछ कहते न बना मुझसे। पर तभी मेरी अन्तरात्मा ने चुपके से कहा - “ये निश्चय ही सफल होंगे अपने उद्देश्य में। नेताजी का साथ इन्हें सफलता दिला कर रहेगा!” और, पल-भर में ही अफ़सर महोदय का चेहरा नेताजी के चेहरे में बदल गया। मुझे यह भी लगा कि रामाशीष बाबू का भी चेहरा ऐसा ही कुछ होगा। और, मेरे मुँह से निकल गया - “कैसे-कैसे लोग हैं

इस दुनिया में।”

उत्तर में अफ़सर महोदय बोले - “वो तो तुलसीदासजी पहले ही बोल गये हैं - जो जस करइ सो तस फल चाखा। जो दूसरों को नहीं सहेगा, उसे दूसरे लोग भी क्यों सहेंगे?”

अब इसका कोई जवाब नहीं था मेरे पास!

पैबन्द

कोई घण्टा-भर बेतहाशा उठा-पटक मचाने के बाद काले-धूसर बादलों ने आख़िर अपनी राह पकड़ी और तब एक हाथ में झाड़ू और दूसरे में फ़र्श पोंछने का सामान लेकर कमला हरिवल्लभ के कमरे में दाख़िल हुई। घर के अन्य कमरों की ही तरह यह कमरा भी पानी-पानी हो रहा था - सीलन-भरी दीवारों से मछली-बाज़ार की-सी हल्की-हल्की गन्ध भी आ रही थी। हरिवल्लभ ने कितनी बार कहा मकान-मालिक से कि पक्की ईंटों की दीवार पर मिट्टी का लेप गोदरेज की तिज़ोरी पर टाट के पर्दे-जैसा लगता है, पर मकान-मालिक लोटन साव ने हर बार सुनी-अनसुनी कर दी, कहा - “सफ़ेदी करा ही दी है, फिर मिट्टी क्या और चूना-सीमेंट क्या!” और, एक बार तो उसने यह भी कह दिया - “तिज़ोरी पर टाट के पर्दे का महत्व क्या समझें आप पढ़े-लिखे लोग! मिट्टी आख़िर मिट्टी है, परम सत्य - उसे क्या पाएँगे चूना-सीमेण्ट?” यह तो गनीमत थी कि उसने फ़र्श मिट्टी का नहीं छोड़ा था, सीमेण्ट का बनवा दिया था, अन्यथा स्थान-स्थान से झाँकता खपरैल का बुढ़ापा कमरों में ही धान की खेती की गुंजायश कर देता।

कमला ने जल्दी-जल्दी झाड़ू से समेट कर यत्र-तत्र बिखरे पानी को चौखट के नीचे बने पतले सुराख़ तक पहुँचाया, पर उतनी सम्पत्ति समेट सकना उस ग़रीब के लिए सम्भव न था। कमला खीझ उठी - "किराया हर महीने पहली तारीख़ को, लेकिन टपका दिलवाने के नाम पर नानी मरती है। चोर कहीं के।" उसकी यह खीझ अकारण भी नहीं थी। अब सात बज रहे थे और वर्षा भी थम गयी थी - हरिवल्लभ आने ही वाला था। उसने वहीं से पुकारा - "रूपा बेटी, ज़रा एक गिलास या कटोरी दे जा।" फिर स्वगत बोली - "ज़रा पानी पिला दूँ साव के पितरों को!"

सब्ज़ी छौंक रही रूपा ने अविलम्ब आदेश का पालन किया, वह एक गिलास दे आयी अपनी माँ को।

कमला ने उलीच-उलीच कर पानी को टिपकारी किये हुए बरामदे पर फेंका, जहाँ से वह सहज ही ढुलक कर आँगन में पहुँच गया।

लेकिन अन्ततः हुआ वही, जिसकी कमला को आशंका थी। अभी उसने आधा कमरा ही पोंछा था कि हरिवल्लभ के क़दमों की आहट सुनाई पड़ी। उसने तनिक पीछे मुड़ कर देखा, फिर सिर का पल्लू ठीक करते-करते सहज मुस्कान के साथ उसका स्वागत किया। मुस्कुराहट का उत्तर भी मुस्कुराहट से ही मिला - इसके साथ ही हरिवल्लभ का एक पैर भी कमरे में आ गया। पर तभी कमला

चीख पड़ी - "हाँ, हाँ, जूते!" हरिवल्लभ को तुरन्त ही अपनी भूल का एहसास हो गया। उसने बाहर निकल कर दरवाज़े पर अपने जूते उतारे, फिर पंजों पर चल कर वह खूँटी के पास पहुँचा और कपड़े उतारने लगा।

कुर्ता उतारते-उतारते ही उसने कहा - "तो आज भी गंगा-यमुना बही थी यहाँ!"

"कृपा है सावजी की! कैसे सूखा पड़ने दें ग़रीब के घर!" - बोल कर कमला पानी से सराबोर झाड़न लिये उठ खड़ी हुई। बरामदे पर जाकर उसने उसे आँगन में निचोड़ा, फिर वापस आकर कमरे को पोंछते-पोंछते कहा - "सच, तुम एक बार साफ़-साफ़ बात करो सावजी से। या तो वे टपका दिलवा दें या फिर हमें ही इजाज़त दें - हम मरम्मत करवा कर किराये से रुपये काट लेंगे। आखिर, कब तक चलेगा इस तरह? यदि धूप-पानी से ही रक्षा नहीं हुई, तो क्या फ़ायदा घर का!"

हरिवल्लभ अब तक खाट पर बैठ चुका था, बोला - "यही तो बात है अरुण की माँ। साव शायद चाहता है कि हम किसी तरह उसका मकान ख़ाली कर दें, ताकि उसे पचास के बजाय पचहत्तर मिलने लगें।"

"उँह, कौन देगा पचहत्तर इस सड़ियल मकान का! मैं तो कहती हूँ, हम ख़ाली कर दें तो कोई पचास भी नहीं देगा," - कमला

ने पूर्ववत् फ़र्श पर हाथ चलाते हुए कहा।

“ऐसा नहीं है, अरुण की माँ। बड़ा बुरा हाल हो गया है मकानों का। किराये दनादन बढ़ते जा रहे हैं और उसके साथ ही मकान-मालिक एक-एक कर पुराने किरायेदारों को निकाल रहे हैं। फिर, साव को ही क्या कहा जाए!” - हरिवल्लभ ने निराश स्वर में कहा।

“अच्छा?” - कमला ने हाथ रोक दिया - “लेकिन फिर भी, एक बार कह कर तो देखो।”

“कहा था, भई, आज सवेरे दफ़्तर जाते समय ही कहा था। ... ”

“फिर क्या कहा उसने?” - कमला ने अपनी उत्सुक आँखें हरिवल्लभ के चेहरे पर गड़ा दीं।

“पहले तो बोला कि आजकल हाथ ज़रा तंग है, लेकिन जब मैंने ख़ुद मरम्मत करा कर किराये से पैसे काट लेने की बात कही, तब कहने लगा कि आप तो पराये-जैसी बात कर रहे हैं; किराया इतना कम है, तो क्या छोटी-मोटी मरम्मतें भी नहीं कराएँगे। अब भला मैं क्या कहता, चुपचाप चला आया। इसलिए, टपका तो, भई, लगता है, अपने ही पैसे से दिलवाना होगा।”

“अरे वाह,” - कमला तड़प उठी - “साव ने कह दिया और हमने मान लिया। फिर तो जी लिये हम। ज़रा शिकायत कर दो रेंट-

कण्ट्रोलर के यहाँ, तो होश ठिकाने आ जाएँ साव के। आख़िर, नियम-कानून भी तो कुछ है।”

“वह तो है, अरुण की माँ, लेकिन अगर कहीं उसने दावा ठोक दिया कि उसे अपने लिए मकान की ज़रूरत है, तो फिर अदालत के दरवाज़े खटखटाते फिरना पड़ेगा। बताओ भला, आठ-दस रुपये के पीछे यह आफ़त मोल लेना क्या ठीक होगा? इसलिए मैं तो यही समझता हूँ कि कहीं से कतर-ब्योंत करके ख़ुद ही टपका दिलवा दें।”

कमला चिन्ता में पड़ गयी - उसका हाथ पुनः फ़र्श पर दौड़ने लगा। आठ-दस सेकण्ड कमरे में पूरी तरह सन्नाटा छाया रहा, फिर जैसे ख़ुद से ही बात कर रही हो, वह बोलने लगी - “अब कहाँ से करूँ कतर-ब्योंत। ... रूपा के पास एक भी साबुत ब्लाउज़ नहीं है, जवान लड़की नंगी रहती है; अरुण रात-भर ठाँय-ठाँय ख़ाँसता रहता है, उसके लिए दवा नहीं आ पा रही है; तरुण की पूरी किताबें भी नहीं आयीं अब तक, आज ही एक कॉपी के लिए रकट रहा था; ख़ुद तुम्हारे जूते की क्या दशा हो गयी है। ... अब क्या करूँ, कहाँ से करूँ। न नौकर, न चाकर, न गहने-कपड़े का शौक़, कपड़े तक घर में धोती हूँ, धोबी नहीं लगाती, फिर भी यह हाल। कुछ हो, तो आदमी कतर-ब्योंत भी करे - ख़ाली हवा में तो कैंची नहीं चलती।” और, उसने कन्धे पर खिसक आये साड़ी के पल्लू को

पुनः सिर पर खींच लिया।

घर की अन्य चीज़ों की ही भाँति जर्जर पल्लू ने भी कमला के कथन का समर्थन किया - उसने अपना हृदय चीर कर एक मोटी-काली रेखा दिखा दी हरिवल्लभ को, और हरिवल्लभ आत्मग्लानि के सागर में डूबने-उतराने लगा। कुल ढाई सौ रुपये वेतन; पाँच व्यक्तियों का परिवार; टूटा-फूटा तीन कमरों का मकान और पचास रुपये किराया; पचास रुपये अरुण की इंजीनियरी की पढ़ाई का ख़र्च; ग्यारहवीं में पढ़ रही रूपा; आठवीं का छात्र तरुण; रूखा-सूखा भोजन; मोटे-झोंटे कपड़े; नौकरानी की तरह सुबह पाँच से रात के ग्यारह बजे तक खटनेवाली कमला; बेटी-बेटों की तरसती हुई नज़रें और उनके मुँह से बूढ़ों जैसी दार्शनिक बातें; तकियों के ग़िलाफ़ों, बिस्तरों की चादरों और अल्युमीनियम तथा पीतल के सस्ते बर्तनों से झाँकनेवाली दरिद्रता; सब एक साथ झकझोरने लगे उसे - “तुम कायर हो, तुम अक्षम हो; तुम बाप नहीं हो, पति नहीं हो ... “ और, वह पसीना-पसीना हो उठा।

तभी कमला का स्वर सुनाई पड़ा - “किस चिन्ता में पड़ गये तुम भी? अरे, भगवान् सब पार लगाएगा। चलो उठो, हाथ-मुँह धोओ, चाय लाती हूँ।” और, वह जिस तरह कमरे में आयी थी, उसी तरह एक हाथ में झाड़ू और दूसरे में झाड़न-गिलास लिये कमरे से निकल गयी।

हरिवल्लभ भी एक निर्जीव कठपुतली-सा उठ खड़ा हुआ और आँगन में लगे नल पर जाकर हाथ-मुँह धोने लगा। वहीं से उसने बरामदे के एक कोने में चूल्हे के पास बैठी रूपा को देखा, जो एकाग्रचित्त न-जाने क्या देख रही थी कोयलों की लाली में। हरिवल्लभ से यह न देखा गया। उसने उसे लक्ष्य कर पूछा - “अरु-तरु कहाँ हैं, रूपा?”

रूपा की तन्द्रा भंग हुई। उसने जवाब दिया - “अभी लौटे नहीं, बापू। पानी के चलते कहीं बिलम गये होंगे।”

अब क्या कहे हरिवल्लभ? उसे कोई सवाल ही नहीं सूझ रहा था। तभी कमला ने आकर रूपा से पूछा - “पानी हो गया, बेटी?”

हरिवल्लभ की जान बच गयी।

“हाँ, माँ, चाय डाल रही हूँ।” - रूपा का यह उत्तर सुनते-सुनते ही हरिवल्लभ अपने कमरे की ओर बढ़ने लगा। इस समय उसके दिमाग़ में एक नया ही सवाल कौंध रहा था - “लड़की सयानी हो गयी और जमा-पूँजी के नाम पर एक पैसा नहीं। कैसे क्या होगा?” उसका पूरा शरीर काँप गया एक बार। वह जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ा कर अपने कमरे में घुस गया, पर मुक्ति नहीं मिली उसे - “कैसे क्या होगा”, “कैसे क्या होगा”, ये तीन छोटे-छोटे शब्द मथते रहे उसके मानस को।

निराशा की चरम सीमा पर पहुँच कर वह सोचने लगा - “काश, मैंने यह पेशा न अपनाया होता। बहुत बड़ी ग़लती हो गयी मुझसे! कान्त, महेश, रघु, सब कहीं पीछे थे मुझसे - सेकंड डिवीज़नर, पर आज कोई डिप्टी सेक्रेटरी है, तो कोई ज़िला मजिस्ट्रेट और कोई डी. आइ. जी.। कितना कहा था लोगों ने मुझसे कि पी. सी. एस. में बैठ जाओ। तेज़ लड़के हो, फ़र्स्ट डिवीज़नर, अंग्रेज़ी में डिस्टिंक्शन भी पाया है, निश्चय ही निकल जाओगे। पर मुझ पर तो जैसे भूत सवार था कि बनूँगा, तो पत्रकार ही - जनता का सेवक बनूँगा, शासक नहीं। ... “ और, उसकी आँखों के सामने दैनिक ’जनसेवक’ का वह सम्पादकीय कमरा नाच गया जिसमें बैठ कर उसने पूरे दस वर्ष तक काम किया था और उप-सम्पादकी से उठते-उठते समाचार-सम्पादक के पद तक जा पहुँचा था; लेकिन तभी सुबह-शाम-दिन-रात की ड्यूटी के कारण अपरिहार्य खान-पान-शयन की अनियमितता ने उसके स्वास्थ्य पर कुठाराघात कर दिया था - जाड़े की रात में भी काम करते-करते उसे बेहद गर्मी लगने लगती थी और वह बाथरूम में घुस कर नहा आता था। उसके बाद तो उसे अक्सर ही ग़श भी आने लगा था और तब डॉक्टर ने उसे कड़ी हिदायत दी थी कि किसी भी क़ीमत पर वह अपनी दिनचर्या को नियमित करे, अन्यथा उसका शरीर उसका साथ छोड़ देगा। फलतः उसे ’जनसेवक’ की चार सौ रुपये की नौकरी छोड़

कर कलकत्ता के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'मानव' में तीन सौ रुपये पर सहायक सम्पादक का पद स्वीकार करना पड़ा था - केवल इस कारण कि वहाँ दिन-दिन में ही काम करना पड़ता - जीवन नियमित होता।

'मानव' की याद आते ही घृणा और क्रोध से उसका चेहरा तमतमा उठा, मुट्ठियाँ भिंच गयीं। वह बुदबुदाया - "साले कुत्ते, मानवता के शत्रु!" उसका यह आक्रोश अकारण भी नहीं था - इसका कारण था, और बड़ा उचित कारण था। 'मानव' में सहायक सम्पादक के रूप में उसका छठा वर्ष था, जब सम्पादक गिरिधारीलाल शर्मा वृद्धावस्था और अस्वस्थता के कारण त्यागपत्र देकर गाँव चले गये। चूँकि हरिवल्लभ का काम काफ़ी अच्छा रहा था और वही सहायक सम्पादक भी था, इसलिए स्वयं शर्माजी ने पत्र के संचालक से सिफ़ारिश की थी कि उसे सम्पादक का पद दिया जाना चाहिए। पर सम्पादक के पद पर नियुक्त किया गया 'भैरव' जी को, जो एक कॉलेज में लेक्चरर थे और एक कवि के रूप में जिन्हें थोड़ी प्रसिद्धी मिल गयी थी। लेकिन उनकी सबसे बड़ी योग्यता यह थी कि वे संचालक के एक श्रद्धापात्र साहित्यकार के पिछलगुए थे। बस, इसी कारण इस बात की कोई परवाह किये बिना ही कि उन्हें पत्रकारिता का तनिक भी अनुभव नहीं था, उन्हें 'मानव'-जैसे लोकप्रिय साप्ताहिक का सम्पादक बना दिया गया।

हरिवल्लभ को, स्वभावतः ही, बड़ा सदमा पहुँचा इस बात से - सदमा इस बात का नहीं था उतना कि उसकी पदोन्नति नहीं हुई, जितना इस बात का था कि एक अनाड़ी के नीचे उसे काम करना पड़ेगा। और, जब 'भैरव' जी ने अपने अनाड़ीपन को ही विज्ञता सिद्ध करने का अभियान ज़ोर-शोर से शुरू कर दिया - जब ब्लॉक बनाने के लिए भेजे जानेवाले चित्रों की लम्बाई-चौड़ाई, सानुपातिकता को ताक पर रख कर, मनमाने ढंग से स्पष्ट करने और न्यूज़प्रिंट पर छपनेवाले ब्लॉक का स्क्रीन दो सौ माँगने का आदेश होने लगा; जब साहित्यिक 'वादों' पर ही पचास प्रतिशत लेख छपने लगे और कविता में फ़िल्मों की आलोचना लिखी जाने लगी; जब सही अनुवाद को काट कर ग़लत किया जाने लगा और शीर्षकों के प्वायंट पचास और पचहत्तर लिखे जाने लगे; और जब ब्लॉकवाले विज्ञापनों की भूलों के लिए प्रूफ़-रीडरों को बर्ख़ास्तगी की धमकी मिलने लगी - तक एक दिन 'भैरव' जी को ख़ूब ख़री-खोटी सुना कर उसने साढ़े चार सौ की नौकरी को लात मार दी।

उसके बाद उसने नौकरी न करके केवल लेखों के सहारे आजीविका कमाने का निश्चय किया, पर साल-सवा साल बीतते-न-बीतते - जमा पूँजी के ख़त्म होते ही - उसे अपना इरादा बदलना पड़ा। तीन महीने बाद लेखों की प्राप्ति की सूचना, उसके छः महीने बाद प्रकाशन और प्रकाशन के छः महीने बाद पारिश्रमिक - इतनी

महँगी साहित्य और जन-सेवा की उसकी औक़ात न थी। उसे पुनः नौकरी की तलाश में निकलना पड़ा। पर नौकरी कहाँ रखी थी उसके लिए - न तो वह किसी गुट का आदमी था और न किसी राजनीतिक आदमी की सिफ़ारिश थी उसके पास। दैनिक पत्रों में अवश्य ड़ेढ़-दो सौ की उप-सम्पादकी मिलती थी उसे, पर कमला दैनिक पत्र में काम करने के सर्वथा विरुद्ध थी। सो, बड़ी ख़ाक छानने के बाद पटना के मासिक 'वसुन्धरा' में उसे ढाई सौ रुपये मासिक पर सहायक सम्पादक का काम मिला। अब इतनी दुर्लभ नौकरी छोड़ने की उसमें हिम्मत न थी और इसीलिए पाँच साल की अवधि में वेतन में एक पैसे की भी वृद्धि न होने के बावजूद वह उससे चिपटा हुआ था। हाँ, प्रशंसा अवश्य मिलती थी उसे - संचालक चोखाणीजी से भी और सम्पादक 'विमुक्त' जी से भी। वस्तुतः यह प्रशंसा ही थी, जो उसके असन्तोष के घाव पर मरहम का काम देती थी। और, अब तो पिछले छः महीने से वह सारा-का-सारा काम अकेले ही सम्भाल रहा था - 'विमुक्त' जी के निधन के बाद से चोखाणीजी कोई नया आदमी रखने के बारे में चुप्पी साधे बैठे थे।

"क्या जाने, क्या है सेठ के बच्चे के मन में।" - हरिवल्लभ होठों में ही बुदबुदाया - "ऐसा भी कोई पेशा है इस दुनिया में, जिसमें इक्कीस-बाईस साल काम करने के बाद भी आदमी जहाँ-

का-तहाँ बैठा रहे, बल्कि और नीचे चला जाए? कहने को लोग कहते हैं कि पत्रकारिता एक टेक्निकल धंधा है, लेकिन संसार के किस टेक्निकल धंधे में उस काम का क-ख भी नहीं जाननेवाले किसी भूत को पुराने-अनुभवी कारीगरों के सिर पर बैठा दिया जाता है? किसी नौसिखिए कम्पाउंडर को सर्जरी का प्रोफ़ेसर बनाया जा सकता है क्या? किसी अमीन को सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर बनते देखा है किसी ने? किसी लेबोरेटरी असिस्टेण्ट को अचानक परमाणविक अनुसन्धान का निदेशक बना दिया जाए, तो कैसा रहे? ... छिः, क्या पेशा है यह भी - काम करे कोई, और वाहवाही तथा पैसे मिलें किसी और को। ... लेकिन अब क्या हो सकता है? इस अधेड़ उम्र में मैं किस लायक रह ही गया हूँ! ... "

तभी कमला और रूपा कमरे में दाख़िल हुईं। कमला के हाथ में चाय की एक प्याली थी और रूपा के दो। कमला ने अपने हाथ की प्याली हरिवल्लभ को थमा दी और एक प्याली रूपा के हाथ से लेकर स्वयं पीने लगी। उस घर में यह परम्परा-सी बन गयी थी कि सुबह और शाम की चाय सब लोग एक साथ पिएँ - आत्मीयता और परस्पर-स्नेह का यह भाव ही तो दरिद्रता के संताप को कुछ कम करता था।

हरिवल्लभ चाय की एक चुस्की लेते हुए बड़बड़ाया - "पता नहीं, कहाँ रह गये दोनों।" फिर रूपा से पूछा - "कुछ कह

कर नहीं गये?”

“भैया तो लॉन में फुटबॉल मैच देखने गये थे और तरु अपने किसी साथी से किताब माँगने गया है,” - रूपा ने सरल भाव से उत्तर दिया।

पर इस उत्तर ने हरिवल्लभ के दिमाग़ की एक नस टनाक से बजा दी। बेचैनी की हालत में उसने चाय की ताबड़तोड़ कई चुस्कियाँ लीं, फिर कमला से कहा - “चाहे जैसे भी हो, उसकी बाक़ी किताबें मँगा दो। परसों पहली है, तरसों उसे किताबें ज़रूर ले दो।”

कमला ने उत्तर कुछ नहीं दिया - केवल हरिवल्लभ को एक बार देखा, फिर प्याली मुँह से लगा ली। इस समय उसके चेहरे पर एक ऐसा शून्यता का भाव था, जिसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता।

चाय-पान हो चुकने पर रूपा रसोई देखने चली गयी, और तब कमला ने बड़े स्नेह-विह्वल स्वर में हरिवल्लभ से पूछा - “आज इतना परेशान क्यों हो रहे हो तुम? क्या बात है? क्या सोच रहे हो?”

हरिवल्लभ का हृदय भर आया, रुँधे स्वर में बोला - “मुझसे बहुत बड़ी ग़लती हो गयी, कामू। मुझे यह धंधा नहीं चुनना चाहिए था।”

कमला समझ गयी हरिवल्लभ का आशय, बोली - “तुम बेकार दिल छोटा कर रहे हो। तुमसे कोई ग़लती नहीं हुई।

पत्रकारिता कोई धंधा थोड़े ही है, यह तो धर्मक्षेत्र है, और धर्मक्षेत्र में त्याग-बलिदान करना ही पड़ता है। जितना बड़ा त्याग-बलिदान, उतनी ही बड़ी उपलब्धि। पैसे से तो मूल्यांकन न करो इस सेवा-धर्म का।”

पर हरिवल्लभ को आश्वस्त न कर सके सान्त्वना के ये शब्द। वह आहत स्वर में बोला - “धर्मक्षेत्र पहले था, कामू, जब लोग त्याग और सेवा का भाव लेकर इसमें आते थे। अब तो यह एक धंधा है, विशुद्ध धंधा - संचालकों के लिए भी और नौकरों के लिए भी। बस, पैसा आना चाहिए - चाहे जितना धोखा करना पड़े, जितनी ज़हालत उठानी पड़े। सच मानो, आज जनता को जितना धोखा पत्र-पत्रिकाएँ देती हैं, उतना और कोई नहीं देता - लेखों, कहानियों और कविताओं से लेकर विज्ञापनों तक में धोखा-ही-धोखा होता है। और फिर भी, ... जब मेरी बीवी-बेटी नंगी हैं, मेरे बेटे भूखे-नंगे हैं, ठीक से पढ़-लिख तक नहीं सकते। ... आख़िर क्या है यह सब? हम किस दुनिया में रह रहे हैं? ऐटमी युग तो, निश्चय ही, नहीं है यह।”

“नहीं है, तो न रहे। बहुतेरे लोगों के लिए नहीं है। सिर्फ़ हम पर ही तो लागू नहीं होती यह बात। इसलिए बेकार सोच-सोच कर क्यों परेशान हों। बस, तीन साल की बात है। अरुण इंजीनियर बना नहीं कि सारी मुश्क़िलें ख़त्म।” - कमला ने आश्वासन का दूसरा

नुस्ख़ा आज़माया।

हरिवल्लभ कुछ देर सोचता रहा, फिर बोला - “न हो, सोचता हूँ, शाम का कोई ट्यूशन पकड़ लूँ, जो पच्चीस-तीस आ जाएँगे।”

“ट्यूशन?” - कमला चिन्ता में पड़ गयी। इस उमर में इतनी मेहनत क्या हो सकेगी इनसे? ग़रीबी ने इन्हें यों ही पाँच साल ज़्यादा बूढ़ा बना दिया है - फिर क्या होगा इस अतिरिक्त परिश्रम का फल? उसने तुरन्त बात का रुख़ पलट दिया - “तुम चोखाणीजी से ही बात क्यों नहीं करते। आख़िर, सम्पादक तो उन्हें चाहिए ही। ’विमुक्त’ जी को चार सौ देते थे - तुम्हें तीन-साढ़े तीन सौ ही दे दें।”

“बात चलायी तो थी - तुम्हें बताया नहीं था?” - हरिवल्लभ ने एक चुभती दृष्टि कमला के चेहरे पर डाली - “बोले, सोचूँगा, सो अब तक सोच ही रहे हैं। मेरा ख़याल है, वे ’विमुक्त’ जी-जैसा ही कोई विशेष अनुभवी-विद्वान् चाहते हैं सम्पादक-पद के लिए।”

“तो तुम नहीं हो अनुभवी-विद्वान्? तीन-चार सौ रुपये में और कितना बड़ा विद्वान् लेंगे वे? वह तो एक ’विमुक्त’ जी ही थे, सन्त-वैरागी आदमी, जो इतने रुपये पर टिके थे। अब तो अच्छे दैनिक पत्रों में एक उप-सम्पादक को भी चार सौ रुपये मिल जाते हैं।”

“सही है, लेकिन यहाँ तो सवाल है 'वसुन्धरा' का, चोखाणीजी की पसन्द का। बड़े-बड़े दैनिकों की बात सोच कर क्या लाभ?”

“लेकिन चोखाणीजी को तो पसन्द है तुम्हारा काम। इन छः महीनों में, जैसा कि तुम कहते थे, 'वसुन्धरा' का सर्कुलेशन बढ़ा ही है, घटा नहीं है। फिर क्या सवाल पसन्द-नापसन्द का? तुम फिर बात करो उनसे। वे सोचते होंगे कि काम चल ही रहा है, सम्पादक के रूप में भतीजे की पब्लिसिटी भी हो ही रही है, तब क्यों उठाया जाए सम्पादक का सवाल!” - कमला एक क्षण के लिए रुकी, फिर बोली - “तुम कल ही बात करो उनसे। मेरा मन कहता है, काम बन जाएगा।”

“ठीक है, कर लेता हूँ।” - हरिवल्लभ को भी न-जाने क्यों ऐसा लगने लगा कि उसके चर्चा छेड़ते ही उसे सम्पादक का पद मिल जाएगा और पलक झपकने-भर की देर में उसकी आमदनी में सौ-पचास की वृद्धि हो जाएगी। कमला, रूपा और अरुण-तरुण के कुम्हलाए चेहरे अचानक ताज़े फूलों में बदल गये और अगले दिन चोखाणीजी से मिलने का उसका निश्चय और पक्का हो गया।

पर अगले दिन सवेरे-सवेरे ही उसके पाँवों-तले से धरती खिसक गयी, जब चोखाणीजी के भतीजे और वसुन्धरा प्रकाशन के मैनेजर विमलजी ने उसे सूचित किया कि तरुण कथाकार सुधीर को

’वसुन्धरा’ का सम्पादक नियुक्त किया गया है और कल वह कार्यभार सम्भाल लेगा। पूछताछ करने पर यह भी मालूम हुआ कि उसका वेतन छः सौ रुपये मासिक होगा।

निष्ठापूर्ण सेवा का ऐसा अपमान! कम-से-कम चोखाणीजी से हरिवल्लभ को ऐसी आशा न थी। यदि सुधीर को ही सम्पादक बनाना था, तो वह स्वयं क्या बुरा था। बाईस साल का अनुभवी पत्रकार, जो वस्तुतः पिछले छः महीने से ’वसुन्धरा’ का सम्पादन भी कर रहा था, केवल तीन-साढ़े तीन सौ रुपये चाहता था, पर चोखाणीजी को पसन्द न आया, और एक ऐसे छोकरे को, जिसका कुछ भी अध्ययन नहीं था, जिसने कभी किसी पत्र का मुँह तक न देखा था, केवल दस-पन्द्रह कहानियाँ छपवा कर गुटबन्दी के सहारे जिसने थोड़ा नाम कमा लिया था, उन्होंने छः सौ रुपये पर नियुक्त कर लिया - यह बात हरिवल्लभ की समझ से बाहर की थी। इसका और कोई उद्देश्य हो ही नहीं सकता था, सिवाय हरिवल्लभ का अपमान करने के। साप्ताहिक ’मानव’ का उदाहरण फिर से दोहराया जा रहा था उसके सामने और लाख निर्धन-अकिंचन होने के बावजूद इतना आत्मसम्मान शेष था उसमें कि ऐसी नौकरी को लात मार कर भूख से तड़प-तडप कर मर जाना पसन्द करता। उसने अविलम्ब अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया - ’त्यागपत्र!’

और, जब निश्चय कर लिया, तब फिर देर किस बात की।

उसने जल्दी-जल्दी त्यागपत्र लिखा, उसे एक बार पढ़ा, फिर विमलजी के पास भिजवाने के लिए घंटी टुनटुनायी। पर तभी एक दूसरा विचार उसके मानस में कौंधा - "नौकरी तो छोड़नी ही है; फिर चोखाणीजी को दो-चार ख़री-खोटी सुना कर क्यों न छोड़ी जाए! अन्यायी को अपनी क्षमता-भर दण्ड तो देना ही चाहिए!" और, उसने टेलीफ़ोन उठा कर पहले आपरेटर से चोखाणीजी का नम्बर माँगा, फिर चोखाणीजी से मिलने का समय। प्रार्थना स्वीकृत हुई - चोखाणीजी ने शाम सात बजे उसे अपनी कोठी पर निमन्त्रित किया।

उस दिन हरिवल्लभ से काम एकदम न हुआ - पाण्डुलिपि, चित्र, प्रूफ़, सब पर उसे दहकते हुए बड़े-बड़े अंगारों के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा था। अतः दोपहर तक तो वह किसी तरह दफ़्तर में बैठा रहा, फिर सिर में ज़ोरों का दर्द होने का बहाना करके घर के लिए रवाना हो गया। लेकिन यह केवल बहाना नहीं था; सचमुच उसे पीड़ा हो रही थी - सिर में नहीं, तो दिल में, दिमाग़ में तो पीड़ा हो ही रही थी।

हरिवल्लभ को असमय लौटते देख कर कमला चौंकी। उसने तुरन्त पूछा - "तबीयत तो ठीक है?" और उसके ललाट पर अपनी हथेली रख दी।

"गड़बड़ी ऊपर नहीं है, अरुण की माँ, अन्दर है, भयानक

गड़बड़ी है।" - बोलते हुए हरिवल्लभ ने उसकी हथेली धीरे से हटा दी।

कमला की समझ में कुछ न आया, सिवाय इसके कि कोई दुर्घटना घटी है। उसने सहज कौतूहलवश पूछा - "बात क्या हुई?"

हरिवल्लभ ने उत्तर कुछ नहीं दिया, सिर्फ़ जेब से एक कागज़ निकाल कर उसे थमाया और एक दुखिया के भाग्य की तरह बिस्तर पर चारों ख़ाने चित्त पड़ गया।

कमला एक साँस में पढ़ गयी उसका त्यागपत्र, फिर पथरायी आँखों से एकटक हरिवल्लभ को देखते हुए उसने पूछा - "कुछ कहा-सुनी हो गयी क्या?"

"नहीं, कामू।" - हरिवल्लभ ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा - "नया सम्पादक आ गया है।"

"आँ।" कमला का मुँह ख़ुला-का-ख़ुला रह गया। कुछेक क्षण वह पत्थर की मूर्ति की तरह हरिवल्लभ को देखती रही, फिर कुछ चैतन्य आने पर बोली - "आ गया, तो आने दो। हमें क्या? चोखाणीजी मालिक हैं; जिसे चाहें, रखें। अपना कोई ज़ोर तो है नहीं उन पर। हम क्यों इतना बुरा माने इसका कि रिज़ाइन कर दें।"

"मैं रिज़ाइन इसलिए थोड़े ही कर रहा हूँ कि मुझे सम्पादक नहीं बनाया गया। रिज़ाइन तो इसलिए कर रहा हूँ कि अपने मुक़ाबले में कहीं अयोग्य आदमी के नीचे काम नहीं कर सकता।

अपना, अपने पत्रकार का, अपमान मैं कभी नहीं सह सकता।" - हरिवल्लभ की आँखों से स्वाभिमान झाँक रहा था।

स्वभावतः ही, प्रश्न हुआ - "कौन हुआ है सम्पादक?"

"सुधीऽर।" - हरिवल्लभ के स्वर में विद्रूप स्पष्ट था।

"सुधीर कौन? वह लड़का तो नहीं, जो कहानियाँ लिखा करता था और 'मानव' में अपनी कहानियाँ छपवाने के लिए जो तुम्हारी मिन्नतें किया करता था?"

"हाँ, वही!" - एक व्यंग्य-भरी मुस्कान हरिवल्लभ के होठों पर तैर गयी।

"अरे, वह तो तुम्हें गुरुदेव कहता था, तुम्हारे पाँव छूता था।"

"हाँ ... लेकिन अब मैं उसके पाँव छुऊँगा।" - बोलते-बोलते आवेश से हरिवल्लभ की मुट्ठियाँ बँध गयीं - "हुँह, मज़ाक समझ रखा है चोखाणी के बच्चे ने! मैं ज़हर खा लूँगा, लेकिन पैर नहीं छुऊँगा किसी कुपात्र के!"

"उसने तो कभी किसी पत्र में काम भी नहीं किया शायद?" - विस्मय में डूबी कमला का अगला सवाल था।

"काम नहीं किया, तो क्या, पत्रों में छपा तो है। सम्पादक बनने के लिए किसी पत्र में काम करने की ज़रूरत भी क्या है। काम तो गदहे करते हैं। बुद्धिमान लोगों के लिए तो इतना ही काफ़ी है कि

उनका नाम छपता रहे। कमीने लोग! जिनके सहारे ऊपर उठते हैं, उन्हीं के पेट पर लात मारते हैं।" और, आवेश से भर कर हरिवल्लभ उठ बैठा।

इसके बाद थोड़ी देर पूरी निस्तब्धता छायी रही कमरे में, और तब कमला ने कहा - "यह तो ठीक है, अपने से हीन आदमी के नीचे काम नहीं करना चाहिए; लेकिन तब ... फिर होगा क्या? कुछ सोचा है तुमने?"

"कुछ भी हो! यह बाद की बात है। ... भूख मरने और परेशानी उठाने के डर से आत्मसम्मान नहीं छोड़ सकता मैं। मैं कोई भाड़े का पत्रकार थोड़े ही हूँ। मैंने अपना जीवन अर्पित किया है इसको - एक पवित्र कार्य मान कर अपनाया है इसे! आज शाम होने दो चोखाणीजी से भेंट। उन्हें भी पता चल जाएगा कि मर्सिनरी और जेन्विन पत्रकार में क्या अन्तर होता है।"

कुछ देर के लिए पुनः शान्ति छा गयी कमरे में और तब फिर कमला ने ही छेड़ा - "लेकिन कुछ सोचना तो पड़ेगा ही। सवाल सिर्फ़ मेरा-तुम्हारा थोड़े-ही है। यदि बेकार हो गये, तो बच्चों की पढ़ाई का क्या होगा? अरुण इंजीनियर कैसे बनेगा? रूपा की शादी कैसे होगी? यह सब भी तो ... "

"जहन्नुम में जाएँ सब!" - हरिवल्लभ क्रोध से काँपता हुआ उठ खड़ा हुआ - "गिराने पर तुली है मुझे। क्या होगा? क्या

होगा? अब मैं पहले त्यागपत्र दे आऊँ, तभी सोचूँगा कि क्या होगा!" - और, वह पैरों में जूते डालते-डालते घर से निकल गया। कमला हतप्रभ देखती रह गयी।

कोई चार घंटे बाद सिनेमा से निकल कर हरिवल्लभ सीधा चोखाणीजी की कोठी पर पहुँचा। हालाँकि अभी सात बजने में बीस मिनट बाकी थे, फिर भी वह रुका नहीं, जाकर चोखाणीजी के बैठकख़ाने में बैठ गया और उनके एक नौकर से बोला - "ज़रा ख़बर कर दो सेठजी को।" चोखाणीजी ने भी सात बजने की प्रतीक्षा नहीं की, पाँच मिनट बाद ही मुस्कुराते हुए बैठकख़ाने में प्रविष्ट हुए। उन्हें देखते ही हरिवल्लभ यन्त्रवत् खड़ा हो गया, उसके हाथ 'नमस्कार' की मुद्रा में जुड़ गये। चोखाणीजी नमस्कार का उत्तर दे कर सामनेवाले सोफ़े पर बैठते हुए बोले - "कहिए, शर्माजी! कैसा चल रहा है काम-धाम?"

"जी, ठीक ही है सब।" - बिना किसी आभास के ही ये शब्द निकल गये हरिवल्लभ के मुँह से और इतने नम्र रूप में निकले कि उसे स्वयं ही आश्चर्य होने लगा।

अब पुनः चोखाणीजी ने ही बातचीत का सिलसिला शुरू किया - "आपका नया अंक देखा। बहुत सुन्दर है। वास्तव में, इसे ही कहते हैं पत्रकार का हाथ - जिसे छू दे, वह चमक जाए। ... "

"जी, आप तो प्रशंसा ... "

"झूठ थोड़े ही कह रहा हूँ। प्रशंसा-योग्य वस्तु की प्रशंसा तो होनी ही चाहिए। क्यों, मैं ग़लत कहता हूँ?"

"जी, अब मैं क्या कहूँ? आप कहते हैं, तो ... " - हरिवल्लभ ने लजाते हुए कहा, और इसके बाद चोखाणीजी उसे अगले अंक के बारे में कुछ परामर्श-निदेश देने लगे।

कोई दस मिनट इसी तरह बीते और तब हरिवल्लभ को अपने असली उद्देश्य की याद आयी। लेकिन बात शुरू कैसे की जाए, यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था।

आख़िर, बड़ी हिम्मत करके उसने सकुचाते-सकुचाते कहा - "आज विमलजी ने बताया कि सुधीर ... "

"अरे हाँ-हाँ, सुधीर को रख लिया है मैंने। मैं तो भूल ही गया था। इस बारे में भी बात करनी थी आपसे।" - चोखाणीजी थोड़ा रुके, फिर फुसफुसाते हुए बोले - "यों, रखने को तो रख लिया है उसे, लेकिन वह आदमी किसी काम का नहीं है, यह पहले ही बता दूँ आपको। उससे उम्मीद कुछ मत कीजिएगा। उसे तमीज़ भी क्या है जर्नलिज़्म की। ... वह तो एक बिजनेस का मामला था और ऊपर से पॉलिटिकल प्रेशर पड़ गया, इसलिए मैंने भी कहा कि चलो, कम-से-कम नाम तो है ही उसका - उसी के पैसे दे देंगे; काम न सही, नाम ही सही। उसका भी कुछ-न-कुछ फ़र्क तो पड़ता ही है। इसलिए ... लेकिन आप यही समझिए कि सम्पादक आप हैं -

सब-कुछ करना आपको ही है। दरअसल, आपके ही भरोसे मैंने उसके लिए 'हाँ' भी कर दी, नहीं तो ... "

अपने ऊपर चोखाणीजी का इतना प्रगाढ़ विश्वास और उनकी मजबूरी की बात सोच कर हरिवल्लभ के मन में आया कि यह प्रसंग वह यहीं समाप्त कर दे, पर तभी उसे अपनी जेब में पड़े त्यागपत्र और कमला के साथ हुए संघर्ष की याद आयी। उसने दबे स्वर में कहा - "वह तो ठीक है, मेरे रहते चिन्ता की कोई बात नहीं है, लेकिन ... फिर भी होगा तो वह मेरे ऊपर ही। मैं बाईस साल का अनुभव लेकर काम करूँगा एक ऐसे आदमी के नीचे जो क-ख-ग-घ भी नहीं जानता पत्रकारिता का। यह तो ... "

"उँह, आप समझे नहीं," - चोखाणीजी ने अपनी आँखें और दाहिना हाथ नचाते हुए कहा - "इसमें ऊपर-नीचे का कोई सवाल ही नहीं है। उसे मैं मनमानी थोड़े ही करने दूँगा। यदि वह कोई नयी बात करना चाहेगा तो पहले मुझसे पूछेगा, यह तो मैंने पहले ही कह दिया है, और मैं ... आपकी राय लिये बिना कुछ करूँगा नहीं। आख़िर, मेरे विश्वासपात्र तो आप हैं, वह थोड़े ही है। ... और हाँ, आपका वेतन भी बढ़ा दिया है मैंने - पच्चीस रुपये। कल आपको पिछले छः महीने का ऐरियर भी मिल जाएगा।"

एक साथ डेढ़ सौ रुपये, फिर हर महीने पच्चीस रुपये! मिठाई देख कर जो दशा दो दिन के भूखे की होती है, वही

हरिवल्लभ की हुई। उसकी सूनी आँखों में अचानक एक चमक आ गयी और उसने चोखाणीजी के चेहरे में बारी-बारी से कमला, रूपा, अरुण, तरुण, सबके मुस्कुराते हुए चेहरे देखे। ब्लाउज़, साड़ी, दवा, पुस्तकें, टपका - ये सब भी एक साथ झिलमिला उठे उसके मानस-पट पर। सहज श्रद्धावश उसके मुँह से निकल गया - “जी, बड़ी दया है आपकी!”

“अजी, दया की क्या बात है इसमें! दरअसल, दया तो आप कर रहे हैं मुझ पर, नहीं तो आप-जैसे विद्वान्-अनुभवी पत्रकार को रख सकने की भला औक़ात है मेरी? यह तो ’वसुन्धरा’ का सौभाग्य है कि ... “

चोखाणीजी की विनम्रता और निरीहता ने हरिवल्लभ को हर्षाभिभूत कर दिया। उसने गद्गद् वाणी में कहा - “आप फिर प्रशंसा करने लगे। ... अब चलना चाहिए मुझे। तो, आज्ञा है?” और, वह हाथ जोड़ कर उठ खड़ा हुआ।

चोखाणीजी भी खड़े हो गये, स्नेहपूर्वक बोले - “जाएँगे? अच्छा, जाइए, लेकिन ’वसुन्धरा’ आपकी है और आप उसके सम्पादक हैं, यह कभी मत भूलिएगा।”

“जैसी आज्ञा।” हरिवल्लभ ने बड़ी नम्रतापूर्वक कहा और सिर झुका कर कमरे से बाहर निकल गया।

इस समय उसके पैर घर पहुँचने के लिए पंखों की तरह

फरफरा रहे थे। चोखाणीजी से प्राप्त सम्मान का बोझ उससे सम्भाले नहीं सम्भल रहा था।

दुश्मन

शाम को दफ़्तर से लौटते वक़्त मन प्रसन्नता से भरा था। तीन साल बाद नानीजी से लम्बी बातचीत का अवसर मिलने वाला था। इस बीच कई बार चन्दू के पत्रों से ऐसा लगा था कि अब नानीजी से मुलाक़ात नहीं हो पाएगी। एक बार तो उसने यहाँ तक लिख दिया था कि “दादी अब एक-दो दिन की मेहमान हैं,” और मेरा तथा श्रीमतीजी का मन अफ़सोस से भर उठा था। हमारी इतनी सेवा करनेवाली नानीजी हमें छोड़ जाएँगी - इस बात का हमें उतना अफ़सोस नहीं था, जितना इस बात का था कि उनकी एक साध अधूरी ही रह जाएगी - दिल्ली देखने की साध।

कलकत्ता वे पहले देख चुकी थीं और बम्बई की यात्रा उन्हें छः वर्ष पहले हप्पू के जन्म के समय करनी पड़ी थी। पर कलकत्ता-बम्बई का उतना महत्व नहीं था उनके सामने, जितना दिल्ली का था। चन्दू से उन्होंने कई बार लिखवाया भी था “दिल्ली देखने की दादी की बड़ी इच्छा है।” पर हम डरते थे उनके छुई-मुई स्वास्थ्य से, और “जल्दी ही व्यवस्था करूँगा” लिख कर मैं बात टाल देता था। पर दिल्ली देखना नानीजी के भाग्य में बदा था। वे न केवल मृत्यु के

मुख से निकल आयीं, बल्कि चन्दू के शब्दों में 'पूर्णतः नीरोग' भी हो गयीं। यह जान कर कि लगभग छः महीने से वे बीमार नहीं पड़ी हैं, हमने जल्दी-से-जल्दी उनकी साध पूरी कर देने का निश्चय किया। तदनुसार ही, पिछले सप्ताह जब सिन्हा साहब अपनी गर्भवती पत्नी की देखभाल के लिए अपनी सासजी को लाने उधर जाने लगे, तब मैंने उनसे नानीजी को भी साथ लेते आने का अनुरोध किया। और, आज सवेरे नौ बजे नानीजी दिल्ली पहुँच गयी थीं। पर साढ़े नौ का दफ़्तर, केवल कुशल-क्षेम पूछ कर ही मुझे जल्दी-जल्दी दफ़्तर के लिए कूच करना पड़ा था।

रोज़ की तरह, हॉर्न सुनते ही बब्बू-हप्पू नीचे भागे आये और अभी मैं कार के पूरे शीशे भी नहीं बन्द कर पाया था कि बब्बूजी दरवाज़ा ख़ोल कर खड़े हो गये - "गियर में मैं डालूँगा।" नौ साल के बब्बूजी चाहते तो यह हैं कि कभी-कभी उन्हें भी गाड़ी चलाने का मौक़ा दिया जाए; उनका ख़याल है, गाड़ी चलाने में कुछ नहीं रखा है, देख-देख कर ही वे गाड़ी चलाना सीख गये हैं; पर मैं ठहरा पिछली पीढ़ी का आदमी, उतना साहस नहीं पाता अपने में - उनकी टाँगों के छोटेपन का सहारा लेकर बात टाल देता हूँ। पर बन्द गाड़ी को गियर में डालने से उन्हें नहीं रोका जा सकता - इसमें कोई ख़तरा भी नहीं दीखता मुझे। सो, मैं बाहर निकल आया और बब्बूजी मेरी सीट पर जा बैठे। हप्पूजी अब तक निकर की जेबों में

दोनों हाथ डाले गोल-गोल चमकीली आँखों से चुपचाप अपने 'दादा' की बढ़ाचढ़ी देख रहे थे - शायद ईर्ष्या और विवशता का भी कुछ भाव था उन आँखों में। पर जैसे ही मैं बाहर आया, उन्हें मानो कोई बिसरी बात याद आ गयी। उत्साह से भर कर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया, कहा - "जानते हैं, डैडी, नानी आ गयीं!"

सवेरे जब नानीजी आयी थीं, बीनू-बब्बू-हप्पू तीनों स्कूल गये हुए थे। इसीलिए हप्पूजी ने यह 'सर्वथा नवीन' समाचार सुना कर मुझे चमत्कृत कर देना चाहा था। मैंने भी उन्हें निराश नहीं किया, एकदम अनजान बनते हुए पूछा - "अच्छा? आ गयीं? कब आयीं?"

हप्पूजी को मज़ा आ गया। हाथ नचाते हुए बोले - "आप तो स्कूल ... नहीं, दफ़्तर गये थे।" फिर थोड़ा रुक कर बोले - "लेकिन डैडी, वे ऐसे क्यों चलती हैं?" उनकी आँखें मेरे चेहरे पर गड़ गयीं।

"ऐं? कैसे चलती हैं वे?"

"ऐसे ... नील डाउन होकर, धीरे-धीरे, ठुमुक-ठुमुक!" - हप्पूजी ने नानीजी की चाल का नमूना पेश किया।

"बूढ़ी हो गयीं न, बेटे, इसीलिए।"

"लेकिन सोने पर तो उनकी टाँगें ऊपर नहीं होतीं?" उनके हिसाब से नब्बे अंश का कोण बना कर चलनेवाली को सोने पर भी

नब्बे अंश का ही कोण बनाना चाहिए था।

“तू बुद्धू है, बुद्धू!” - इस बार जवाब दिया बब्बूजी ने, जो अब तक गाड़ी में चाभी लगा कर और डिकी से कवर निकाल कर हमारे पास आ खड़े हुए थे।

ऐसी बातों का जवाब देना हप्पूजी अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। उन्होंने सिर्फ़ एक शिकायत-भरी निगाह बब्बूजी पर डाली, फिर मेरे हाथ का अख़बार और पुस्तक लेकर वे थोड़ा पीछे हट गये। बब्बूजी की मदद से मैंने गाड़ी पर कवर डाला, ताला बन्द किया और तब तीनों जने ऊपर अपने फ़्लैट में पहुँचे।

वहाँ चाय बिल्कुल तैयार थी। बस, हमारी ही प्रतीक्षा हो रही थी।

चाय पीते-पीते ही, बातचीत के क्रम में, मैंने नानीजी से पूछा - “अब तो तुम्हारी इच्छा पूरी हो गयी न, नानी?”

“भगवान् चाहे, तो क्या न हो! दिल्ली भी देख ही ली।” - नानीजी ने बड़े धीमे-धीमे गम्भीर स्वर में कहा।

“अब कम्पोटराइन ज़्यादा शेख़ी नहीं बघारेंगी आपके सामने! है कि नहीं, नानी?” - श्रीमतीजी ने मुस्कुराते हुए चुटकी ली।

’कम्पोटराइन’ शब्द ने ही जैसे जोश का एक उबाल ला दिया नानीजी में, कहने लगीं - “सच, बड़ा तंग कर रखा था उसने

भी ... जब देखो तब, दिल्ली में ऐसा है, दिल्ली में वैसा है; दिल्ली में यह होता है, दिल्ली में वह होता है। अरे, सबको मालूम तो है कि दिल्ली रह आयी हो। तब क्या ज़रूरत बार-बार जताने की। तरकारी ख़रीदने बाज़ार जाएगी, तो कुंजड़े से कहने लगेगी - दिल्ली में इसका भाव ऐसे है, वहाँ तो इसे कोई पूछता तक नहीं! ... हुँह, अच्छा थोड़े ही लगता है यह सब!”

कम्पोटराइन को न-जाने क्या दुश्मनी है नानीजी से - इन्हें रुला-रुला मारती हैं। कहने को तो वे नानीजी के गोतिया में (कुल की) हैं, यानी मेरे नानाजी के परदादा और कम्पोटर (कम्पाउण्डर) साहब के दादा अपने भाई थे; गाँव में दोनों के मकान भी बगल-बगल हैं, क्योंकि एक ही मकान के दो हिस्से किये गये थे; फिर भी वे हमेशा कोई-न-कोई बात लेकर लड़ती रहती हैं नानीजी से, अनाप-शनाप प्रसंग लेकर नीचा दिखाती रहती हैं इन्हें। एक बार तो वे इतना लड़ी थीं कि नानीजी को कहना पड़ा था - “मरोगी, तो तुम्हें कीड़े पड़ेंगे और मैं उन्हें चुनूँगी!” जब यह प्रसंग नानीजी ने मेरी श्रीमतीजी को सुनाया था, तब श्रीमतीजी ने विनोदपूर्वक पूछ दिया था - “हाँ नानी, उनके कीड़े कैसे चुनेंगी आप? घिन नहीं लगेगी आपको?” और, नानीजी ने सकपका कर जवाब दिया था - “अरी, घिन लगेगी, तो लगे। बेचारी को ऐसे ही कैसे जलने दूँगी!” सचमुच, नानीजी की इस उदारता ने ही कम्पोटराइन को सिर चढ़ा

रखा है। झगड़ने के दस मिनट बाद ही अगर कम्पोटराइन को कोई गरज़ आ पड़ेगी, तो वे निस्संकोच नानीजी के पास आकर बात करने लगेंगी; जैसे - "अरी, सुनती हो परकास (मामाजी) की माँ, रामफल (कम्पोटराइन का छोटा लड़का) ज़िद किये बैठा है कि भौजी के यहाँ से दही ला दो, तभी खाऊँगा! अब दो थोड़ा दही, नहीं तो तुम्हारा देवर भूखा रह जाएगा!" और, नानीजी सारी लड़ाई भूल कर मामीजी को पुकारेंगी, कम्पोटराइन को थोड़ा दही देने के लिए कहेंगी। इन दोनों बुढ़ियों की लड़ाई और दोस्ती गाँव-भर में विख्यात है - बड़े चटकारे ले-लेकर लोग इनकी लड़ाई और दोस्ती की कहानियाँ सुनाते हैं!

नानीजी और कम्पोटराइन का साथ लगभग छप्पन वर्ष पुराना है। नानीजी के विवाह के लगभग चार वर्ष बाद कम्पोटराइन का विवाह हुआ था। उस समय कम्पोटराइन की वय चौदह की थी और नानीजी की बाइस की, यानी कम्पोटराइन नानीजी से आठ वर्ष छोटी हैं; फिर भी दर्जे में वे बड़ी हैं - कम्पोटर साहब उम्र में पाँच-छः साल कम होते हुए भी नानाजी के चाचा लगते थे और इस कारण चौदह-वर्षीया कम्पोटराइन ब्याह कर आते ही बाईस-वर्षीया नानीजी की सास बन गयी थीं। आज नानीजी अठत्तर पार कर रही हैं और कम्पोटराइन सत्तर में पहुँच गयी हैं। दोनों ही के बाल लगभग सन बन गये हैं, चेहरे के साथ-साथ पूरा शरीर झुर्रियों से भर गया है

और उनके आगे तीन-तीन पीढ़ियाँ हँस-खेल रही हैं। उनके अपने ज़माने के बहुत कम लोग बच रहे हैं अब। तब से अब तक ज़माने में उलट-फेर भी कम नहीं हुए हैं; पर उनके बीच जो प्रतिद्वन्द्विता छप्पन साल पहले आरम्भ हुई थी, वह आज भी ज्यों-की-त्यों क़ायम है, बल्कि समय बीतने के साथ-साथ उसमें वृद्धि ही हुई है। जहाँ कहीं नानीजी को अवसर मिलता है, वे यह जताने से नहीं चूकतीं कि उनके नाती-पोते पढ़-लिख कर अफ़सर-वकील-प्रोफ़ेसर बन गये हैं (कम्पोटराइन के ख़ानदान में कोई अब तक मैट्रिक की सीमा भी नहीं लाँघ सका है) और जहाँ कम्पोटराइन को मौक़ा मिलता, वे यह जताने से बाज नहीं आतीं कि यदि प्रभावशाली कम्पोटर साहब बीच में न पड़ते, तो नानीजी की किसी बेटी की शादी ही न हो पाती। जहाँ कहीं गाँव की औरतों का मजमा इकट्ठा होता, नानीजी बम्बई का बयान शुरू कर देतीं (कलकत्ता कम्पोटराइन भी देख चुकी थीं) और कम्पोटराइन दिल्ली का बख़ान करने लगतीं। नानीजी बम्बई में समुद्र पर हवाई जहाज़ उतरने-जैसी करामात का ज़िक्र करतीं और कम्पोटराइन दिल्ली में पचास तल्ले के आसमान छूनेवाले मकानों से हवाई जहाज़ों के टकराने का सजीव चित्रण करतीं। और अन्त में गोष्ठी समाप्त होती “तुम डायन हो”, “तुम पेड़ उड़ा ले जाती हो”, “तुमने मेरे बच्चे को खा लिया”, “तुम्हें कीड़े पड़ेंगे”, आदि के शान्ति-पाठ के साथ।

नानीजी की दिल्ली देखने की प्रबल इच्छा का यही रहस्य था। वे चाहती थीं कि कम्पोटराइन का यह प्रिय विषय उनसे छिन जाए। दूसरी ओर, उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि कम्पोटराइन के नालायक-फटेहाल बेटे-पोते उन्हें बम्बई कभी नहीं घुमा सकेंगे और फलस्वरूप समुद्र पर हवाई जहाज़ उतरने के वृत्तान्त का कभी खण्डन नहीं हो सकेगा।

पिछली बार जब नानीजी मेरे यहाँ आयी थीं, तब उनमें काफ़ी कुछ दम-ख़म था। पूरी बम्बई की उन्होंने बिना थके परिक्रमा की थी - मील-दो मील एक साँस में चल लेना उनके लिए साधारण बात थी। तभी तो, वे रोज़ शाम होते ही मील-भर दूर बाज़ार से साग-भाजी लाने के लिए उतावली हो उठती थीं। तीन वर्ष पूर्व जब हम उनके घर गये थे, तब भी उनमें थोड़ी जान थी, श्रीमतीजी को वे स्वयं अपने टोले में नित्य घुमाने ले जाती थीं। पर इस बार तो जैसे उनमें प्राणवायु के अतिरिक्त कुछ शेष ही न था। उनमें इतनी शक्ति भी न बची थी कि एक तल्ले की सीढ़ियाँ उतर-चढ़ सकतीं। बड़ी मुश्क़िल से, रुक-रुक कर, वे नीचे उतरती थीं और दरवाज़े पर खड़ी कार तक पहुँचती थीं। आँखें भी उनकी क़रीब-क़रीब जवाब दे गयी थीं - पाँच-छः फ़ुट से दूर की हर वस्तु उन्हें धुएँ में लिपटी नजर आती थी। इसी का नतीजा था कि हप्पू उन्हें कभी बब्बू दिखाई देता था और श्रीमतीजी कभी बीनू। एक बार तो वे सड़क पर ज़रा-सा

ऊपर उठे कंक्रीट से ठोकर खाकर मुँह के बल गिर पड़ीं और अभी उस दर्द की मालिश चलते कुछ ही दिन बीते थे कि पुनः बाथरूम की चौखट से भिड़ कर उन्होंने पूरे डेढ़ महीने मालिश कराने और कराहने की व्यवस्था कर ली। इसके बाद उनके एक क़दम भी अकेली चलने की हमने मनाही कर दी - बिना बॉडी-गार्ड के विचरने-योग्य वे एकदम नहीं थीं।

पर यह शारीरिक दुर्बलता दिल्ली का कोना-कोना छान डालने की उनकी तीव्र उत्कंठा पर कोई प्रभाव न डाल सकी थी। दिल्ली पहुँचते ही उन्होंने "सब-कुछ" देख डालने की अपनी इच्छा व्यक्त की और सुविधानुसार धीरे-धीरे हमने उन्हें क़ुतुबमीनार, लाल क़िला, बिड़ला-मन्दिर, राष्ट्रपति-भवन, दोनों सचिवालय, संसद्-भवन, राजघाट, शान्ति-वन, नेहरू-संग्रहालय, इण्डिया गेट, चाँदनी चौक, कनॉट प्लेस, बुद्धजयन्ती पार्क, आदि दिल्ली के जितने भी दर्शनीय स्थान थे, दिखा दिये। पर उन्हें कुछ और चीज़ों की तलाश थी। कई भवनों के नीचे खड़ी होकर उन्होंने पूछा - "क्यों बेटे, यही वह पचास तल्लोंवाला मकान है, जिससे हवाई जहाज़ टकराते हैं?" और, मैंने जब उनसे कहा कि दिल्ली तो क्या, देश-भर में पचास तल्लों का कोई मकान नहीं है, तो उन्हें जैसे विश्वास न हुआ, बोलीं - "लेकिन कम्पोटराइन तो कहती थी। ज़रूर 'सदरा' (दिल्ली शाहदरा) में होगा। वह वहीं रहती थी। सदरा बड़ा है न दिल्ली से?

एक दिन ले चलना वहाँ!” और, जब मैंने उन्हें बताया कि शाहदरा तो गाँव है दिल्ली के मुक़ाबले, तब उन्हें सहसा विश्वास न हुआ। उन्होंने एक-दो पड़ोसिनों से भी इस बारे में पूछताछ की और जब उनसे भी यही जवाब मिला, तब उनके मुँह से बेसाख़्ता निकल पड़ा - “हे भगवान्, कितनी लीला है उस कुत्ती के पेट में। नरक में भी उसे जगह मिलेगी?”

फिर एक और दिन नानीजी कहने लगीं - “तुमने तो न-जाने यह सब क्या-क्या ’अरकचबथुआ’ दिखा दिया मुझे। न वह कुआँ दिखाया, जिसके पानी से इत्तर की ख़ुश्बू आती है और जिसकी एक बूँद चाट लेने से पुराना-से-पुराना दमा ख़त्म हो जाता है; न ही उस मन्दिर में ले गये, जिसके साधु बाबा चेहरा देखते ही पिछले जन्म से अगला जन्म तक बता देते हैं; वह सिंहासन भी तुमने नहीं दिखाया, जिस पर बैठ कर पहली बार बर्माजी (ब्रह्माजी) ने आदमी बनाया था। यह सब किल्ला, चबूतरा, खम्भा देख कर क्या होगा?”

मैंने उन्हें समझाया कि यहाँ न तो कोई वैसा कुआँ है, न कोई त्रिकालदर्शी महात्मा किसी मन्दिर को पवित्र कर रहे हैं और न ही ब्रह्माजी का कोई सिंहासन यहाँ स्वर्ग से टपका है। पचास तल्ले के मकान की तरह वे सब चीज़ें भी कम्पोटराइन के दिमाग़ में ही हैं। तुम गाँव जाकर कम्पोटराइन के झूठ का भण्डाफोड़ कर देना।

नानीजी थोड़ा सोच में पड़ गयीं, फिर बोलीं - "लेकिन वह तो यही कहेगी कि मैंने वे सब चीज़ें देखीं ही नहीं, यों ही इधर-उधर घूम कर चली आयी। बहस में उससे कोई जीत सकता है! अब देखो न, तुम कहते हो कि बस के कंडट्टर (कंडक्टर) को सौ-डेढ़ सौ ही मिलते हैं और वह कहती है कि चरण बाबू (कम्पोटराइन के बड़े पुत्र) दिल्ली में पाँच सौ पाते थे, जब रिटायर हुए। और, जब हमने पूछा कि परडन-फंट (प्राविडेंट फ़ंड) के रुपये से मकान की मरम्मत क्यों नहीं करा ली, तब बोली - 'जब नौकरी करता था, तब भी रुपया अपनी रंडी (रखैल) को दे देता था और जब नौकरी छूटी, तब भी उसी को देकर ख़ाली हाथ लौट आया।' अब बताओ, क्या कहे आदमी? इसीलिए कोई उपाय तो सोचना पड़ेगा।"

मैं चिन्ता में पड़ गया, थोड़ी देर बाद बोला - "तब तुमने कुछ सोचा है उपाय?"

"हाँ, एक उपाय आता है मेरी समझ में।" - नानीजी बड़ी गम्भीरता से बोलीं - "मैं कहूँगी की वह ऊँचा मकान तो मैंने देखा, पर पचास तल्ले का नाम ऐसे ही परसिद्ध है, उसमें कुल पैंतालिस ही तल्ले हैं। इसी तरह, वह कुआँ भी मैंने देखा, पर उसके पानी से दमा नहीं, थाइसिस ठीक होता है। वह साधु बाबा भी सिर्फ़ सामने आनेवालों के ही बारे में नहीं बताते हैं, और भी बहुत-सी बातें बताते हैं - मुझे देखते ही कहने लगे कि तुम्हारी एक सास कम्पोटराइन मेरे

पास कुछ साल पहले आयी थी; वह पहले जन्म में सूअर थी और अगले जन्म में मेहतरनी बनेगी। ... "

अब मुझसे न रहा गया, ठठा कर हँस पड़ा। नानीजी लजा गयीं, उनकी गम्भीरता सलज्ज मुस्कान में बदल गयी। एकदम चोरी करते पकड़ गये बच्चे की-सी दशा हो गयी उनकी।

जब हँसी कुछ थमी, तब मैंने पूछा - "और बर्माजी के सिंहासन के बारे में क्या कहोगी, नानी?"

"तू तो हँसता है। सच, खेल नहीं कर रही मैं। उस डायन से ऐसे निपटे बिना ग़ुज़ारा नहीं है।" - नानीजी ने गम्भीर बनते हुए शिकायत की।

"अरी नानी, मैं तुम पर थोड़े ही हँस रहा हूँ। मैं तो इस बात पर हँसा कि जब कम्पोटराइन अपने पिछले-अगले जन्म के बारे में सुनेंगी, तब कितनी भद होगी उनकी सब औरतों में!" - मैंने समझाने की कोशिश की।

नानीजी ख़ुश हो गयीं - "वह तो होगी ही।" फिर तनिक रुक कर बोलीं - "बर्माजी के सिंहासन का क्या है? कह दूँगी, आजकल उसी सिंहासन पर तो बैठते हैं साधु बाबा! और क्या? क्यों, ठीक रहेगा न?"

"अरे, बिल्कुल!" नानीजी की बुद्धि की दाद दिये बिना मैं न रह सका, उनसे लिपट गया, पर अगले ही क्षण वे चिल्लाने लगीं -

“अरे, छोड़-छोड़। हड्डी टूट गयी मेरी!”

किसी महात्मा ने कहा है कि मनुष्य के हृदय के सबसे निकट उसका दुश्मन होता है, उसे वह किसी भी क्षण अपने से अलग नहीं करता। नानीजी ने इस उक्ति को शत-प्रतिशत सिद्ध कर दिया। वे अपना भरा-पूरा घर छोड़ कर आयी थीं, जहाँ पुत्रवधु, पोते, उनकी बहुएँ-बच्चे, सब थे, पर दिन-भर में नानीजी जितनी बार कम्पोटराइन की चर्चा करतीं, उतनी बार अपने घरवालों की नहीं। चाहे सब्ज़ी काटने का प्रसंग हो चाहे शादी-ब्याह का, उन्हें उससे सम्बद्ध कम्पोटराइन की कोई-न-कोई कहानी याद आ ही जाती और वे उसे बड़ी तन्मय होकर सुनाने लगतीं। इन सब कहानियों का निष्कर्ष यही निकलता कि कम्पोटराइन को न तो किसी काम का ढंग आता है, न वे अच्छा व्यवहार जानती हैं और न ही कोई उन्हें पसन्द करता है - उनके घरवाले भी उन्हें काँटा ही समझते हैं। वे बड़े गर्व के साथ बतातीं कि कम्पोटराइन की पुत्रवधुएँ और पोतों की बहुएँ जब कभी एकान्त पाती हैं, इनसे कम्पोटराइन की शिकायत शुरू कर देती हैं और ये इस डर से कि जान लेने पर कम्पोटराइन इनसे लड़ने लग जाएँगी, उनसे जल्दी-जल्दी अपनी जान छुड़ाती हैं - हाँ, जो-कुछ वे माँगती हैं, ये ज़रूर दे देती हैं, उन बेचारियों के भाग्य पर इन्हें तरस आता है।

एक दिन श्रीमतीजी ने नानीजी से पूछ दिया - “हाँ नानी,

आप उनसे एक बार जम कर लड़ क्यों नहीं लेतीं, ताकि वे आगे उलझने की हिम्मत न करें।”

“उँह, उसको कुछ शरम है! अभी लड़ेगी, सबको सरापेगी - ’तेरा बेटा मर जाए, पोता मर जाए, नाती मर जाए’ कहेगी और फिर घण्टा-भर बाद आकर मिमिआएगी - ’ए परकाश की माँ, परसों गंगा-दशहरा है - चलोगी न नहाने?’ मैं पहले तो जवाब नहीं दूँगी, पर जब वह तंग करेगी, तब कहूँगी - ’जाऊँ चाहे न जाऊँ, तुम्हें क्यों फिकिर पड़ी है?’ वह बोलेगी - ’अरे, ऐसे क्यों बोलती हो? अगर तुम जाओ, तो साथ ही चली चलूँ!’ मैं कहूँगी - ’अरे बाप, मैं जाऊँगी तुम्हारे साथ? कहीं वहीं नदी में मुझे परवह कर दिया, तो? न, अब नहीं आऊँगी तुम्हारे चक्कर में।’ पर वह इसकी कोई परवाह नहीं करेगी, बोलेगी - ’बैलगाड़ी पर जाओगी न? वही भोर पाँच बजे चलोगी, और क्या? मुझे भी पुकार लेना।’ और बस, लड़ाई खतम!”

“तो आप सचमुच पुकारती हैं उन्हें? साथ ले जाती हैं?” - श्रीमतीजी ने प्रश्न किया।

“अरे, तब क्या करूँ? दया आ जाती है। न ले जाऊँ, तो हरामज़ादी को ले कौन जाएगा? पैदल चलेगी आठ कोस, तो राह में ही दाँत बिदोर देगी।” - बोलते-बोलते नानीजी किसी गम्भीर चिन्ता में खो गयीं।

नानीजी को कम्पोटराइन के हितों की सचमुच बड़ी चिन्ता थी। जब भी मैं उनके घर पत्र लिखने लगता, तब वे यह ज़रूर कहतीं कि कम्पोटराइन के घर का हाल पूछ लेना। पर चन्दू को न जाने कितनी चिढ़ थी कम्पोटराइन से - वह उनके बारे में कोई सूचना ही नहीं देता। फलतः चन्दू का पत्र सुन कर नानीजी उदास हो जातीं। एक दिन बोलीं - “कम्पोटराइन का कोई हाल-समाचार नहीं मिला। पता नहीं, कैसी है; मरती है कि जीती है!”

मैंने जवाब दिया - “मज़े में ही होंगी, नानी। अगर वे मर गयी होतीं, तो चन्दू ख़बर ज़रूर देता।”

नानीजी गम्भीर हो गयीं - “उँह, ऐसा काहे कहता है रे। मरें बेचारी के दुश्मन!”

“फिर तो आपका ही नम्बर आएगा, नानी!” - मैंने कहा।

नानीजी से इसका कोई उत्तर न बन पड़ा। कुछ देर वे चुपचाप बैठी रहीं, फिर बोलीं - “इस बार चन्दू को लिखना कि कम्पोटराइन के घर का हाल-समाचार दो - तुम्हारी दादी ने पूछा है। और हाँ रे, यह भी लिख देना कि मैंने यहाँ क्या-क्या देखा - पुराने बादशाह का महल, आजकल के राजा का महल (राष्ट्रपति भवन), गाँधी बाबा और जवाहिरलाल के समधीवाली कबरें (समाधियाँ), कुत्ता का खम्भा (क़ुतुबमीनार) और क्या नाम है उसका, हाँ, बिरुआ का मन्दिर (बिड़ला मन्दिर), सब लिख देना। मेरे लौटने में तो देर है

अभी - पता नहीं, याद रहे कि न रहे। चन्दू बता देगा 'सब' को।"

लेकिन उन्हें आगे कुछ कहने नहीं दिया बब्बू-हप्पू ने। वे उनसे सब नामों के सही उच्चारण कराने लगे। वे हर बार ग़लती करतीं और इन्हें हँसने का मसाला मिल जाता। राष्ट्रपति-भवन को उन्होंने, कई बार समझाये जाने पर भी, 'रासपति-भवन' से भिन्न कुछ नहीं कहा। गाँधीजी और नेहरूजी की समाधियों को कब्र क्यों न कहा जाए, यह भी उनकी समझ में न आया। उनका दावा था कि उन्होंने सैंकड़ों कब्रें देखी थीं और ये समाधियाँ भी उनसे भिन्न नहीं थीं। उनका कहना था कि गाँधीजी और नेहरूजी के समधी मुसलमान थे और ये उन्हीं की कब्रें थीं - हमें ही ठीक जानकारी नहीं थी उनके बारे में। इसी तरह, 'क़ुतुबमीनार' का भी अर्थ उन्होंने किसी 'कुत्तू की मीनार' से अलग नहीं लगाया। हाँ, बिड़ला मन्दिर उनकी समझ में अवश्य आ गया, क्योंकि दान-धर्म करनेवाले बिड़लाजी का नाम उन्होंने कई बार सुन रखा था; पर यह बात भी उनके गले से नीचे नहीं उतरी कि बिड़लाजी 'ख्रिस्तान' (ईसाई) नहीं, मारवाड़ी थे और इसलिए उनकी यह समस्या भी समस्या ही रही कि कोई ख्रिस्तान हिन्दुओं के लिए इतना-कुछ क्यों करता था। कम्पोटराइन ने उन्हें एक बार बताया था कि बिड़ला साहेब ख्रिस्तान हैं और उनके इस कथन का विश्वास नानीजी को बिड़ला-मन्दिर में अंग्रेज़ों को प्रवेश करते देख कर हो गया था, नहीं तो हिन्दू मन्दिर में

भला किसी विलायती आदमी को घुसने दिया जा सकता था!

और, जिस दिन चन्दू के पत्र में यह लिख कर आया कि कम्पोटराइन के पोते की बहू के लड़का हुआ है और उनके घर में किसी के भी न होने के कारण मेरी मौसीजी को सारी व्यवस्था करनी पड़ी, उस दिन नानीजी को बड़ा क्रोध आया, तुरन्त बोलीं - "वह 'नौटंकी' (कम्पोटराइन) कहाँ गयी हुई है?"

"अपनी मझली बेटी के यहाँ!" - मैंने पत्र देख कर कहा।

"हाँ, उसको काहे को रहेगी घर-पतोहू की फिकिर। घूमती फिर रही है छम्मकछल्लो बन कर! भला कहो तो, अगर मेरी बेटी न आयी होती तो क्या हाल होता बेचारी का। ऐसे कहीं घर चलता है! इतनी लापरवाही! मेरी बेटी निगोड़ी भी तभी आ पहुँचती है मायके, जब कम्पोटराइन को नौकरानी की ज़रूरत होती है। भगवान् सहाय है कुतिया का, और क्या! रुपया-पैसा भी सब मेरी बेटी को ही ख़र्च करना पड़ा होगा। दरिदरिन (दरिद्रा) करमसाँड़ है। लेकिन घर की दूसरी औरतें भी कहाँ चली गयी थीं?"

"गयी होंगी मायके-ससुराल! और क्या?"

"हाय-हाय, बेचारी लखन बहू! पहिलौंडी छोरी बेचारी। उसको तो मार ही दिया था सबने! लेकिन ख़ैर, भगवान् सबको देखता है। आ गयी मेरी बेटी, अच्छा हुआ। जाऊँगी, तब पूछूँगी हरामज़ादी से - ऐसे ही गिरथाइन (गृहस्थिन) बन कर घर चलाती

है? डूब मर ढकनी-भर पानी में - न हो घर में पानी भी, तो दे दूँ अपने यहाँ से!” - नानीजी थोड़ा रुकीं, फिर उन्होंने पूछा - “हाँ बेटा, जच्चा-बच्चा सब ख़ैरियत से तो हैं न?”

“हाँ, ठीक हैं दोनों!”

“चलो, धनबाद भगवान् को। दोनों जिएँ-जागें, फलें-फूलें - एक से एक लाख हों!” नानीजी ने आसमान की ओर हाथ जोड़ कर ये शब्द उचारे।

इसके बाद दो-एक क्षण वे मौन सोचती रहीं, फिर बोलीं - “कुतिया घूमने गयी है। तब तो चन्दू उसे कुछ बता ही नहीं सका होगा मेरे घूमने-फिरने के बारे में!”

“कैसे बता सका होगा। जब आएँगी, तब बता देगा।” - मैंने कहा।

“अरे, क्या ठिकाना इस चन्दुआ का भी। या तो भूल जाएगा, या फिर कहेगा, कौन जाए कत्था छेड़ने उस लोमड़ से। वह बेहद घबराता है न उससे। सब डरपोक ही निकले हमारे घर, नहीं तो उसकी मज़ाल थी कि हमारे आँगन में खड़ी हो कर हमारे ही ख़ानदान को सराप जाती!” - नानीजी के चेहरे पर गहरा क्षोभ व्याप गया।

“अरी नानी, लँगटे से तो भगवान् भी डरते हैं - तुम्हारा ही कहना है न?” - मैंने कहा।

वे तुरन्त शान्त पड़ गयीं - “हाँ, वह तो है ही। इज़्ज़तदार अपनी इज़्ज़त बचावे कि लँगटे के आगे अपना भी बस्तर (वस्त्र) ख़ोल कर फेंक दे। मैं तो कहती हूँ, भगवान् भी उससे पनाह माँगेगे, कहेंगे - ’चल, भाग फिर धरती पर। न तेरे लिए सुरग में जगह, न नरक में - तू सात आसमान के नीचे मिरतुभुवन (मृत्युभवन) में ही गूह गींज!”

इतनी निकृष्ट कम्पोटराइन! पर नानीजी को उनके बिना चैन भी न पड़ता था। वे पाँच महीने रहीं मेरे यहाँ, पर एक दिन भी ऐसा न गया, जब दो-चार बार उन्होंने कम्पोटराइन का नाम न लिया हो। बात करने को इतने सारे विषय थे, इतने नाते-रिश्तेदार थे, पर उनका ज़िक्र कभी-कभार ही आता, और जब आता, तब भी अन्त में उसमें कम्पोटराइन ज़रूर घुस जातीं और हम मुस्कुरा पड़ते। नानीजी के मन-प्राण पर इस तरह छायी थीं कम्पोटराइन कि उनके बिना एक क़दम भी चलना इनके लिए मुश्क़िल था। इनका हर काम कम्पोटराइन को दिखाने के लिए होता था। उन्होंने इस तरह इन्हें ग्रस लिया था। कभी-कभी हम कहा भी करते थे कि शत्रुता की ऐसी अजीबोग़रीब कहानी शायद ही कहीं देखने को मिले।

जब निश्चित कार्यक्रम के अनुसार नानीजी के लौटने में कुल बीस दिन रह गये, तब एक दिन वे कहने लगीं - “बेटे, उस मुँहजली को तो इस बात का विश्वास ही नहीं होगा कि तुम्हारे पास मोटर है

और मैं मोटर में ही दिल्ली में घूमी-फिरी। वह मोटर का मतलब बस ही लगाएगी। गाँव की औरतें भी बस को ही 'मोटर' कहती हैं।"

मैं चिन्ता में पड़ गया, ढूँढ़ने लगा समस्या का समाधान; अन्त में बोला - "तुम समझा देना सबको कि चार-पाँच आदमी बैठनेवाली मोटर में तुम घूमी-फिरी थीं, पचीस आदमीवाली में नहीं। सब मानेंगी क्यों नहीं, ज़रूर मान जाएँगी।"

"अगर मान ही जातीं, तब क्या सोचना था! वह कुतिया चिल्ला-चिल्ला कर आसमान सर पर उठा लेगी और सबको परतीत हो जाएगा कि मैं बस में ही घूमी, जिस पर चार आने दे कर सब लोग चढ़ सकते हैं।" झुर्रियों के बीच से झाँकती नानीजी की छोटी-छोटी आँखें करुण भाव से ओतप्रोत थीं।

मैंने कहा - "फिर क्या किया जाए? उन्हें कैसे होगा विश्वास?"

"एक उपाय है बेटा! तुम्हारे पास वह बक्सा है न ... "

"बक्सा? कौन-सा बक्सा? बक्से तो कई हैं घर में।"

"अरे वह बक्सा नहीं; जिससे फ़ोटो उतरता है न, वह बक्सा। उसी से एक फ़ोटो उतार लो मेरे मोटर में बैठने का। तब वह कितना भी चिल्लाएगी, उसकी कोई नहीं मानेगा।" और, नानीजी ने अपनी निरीह दृष्टि मेरे चेहरे पर टिका दी।

"उँह, यह कौन बड़ी बात है! अगले रविवार को ही लो!" -

मैंने उन्हें आश्वस्त किया। वस्तुतः नानीजी की दशा पर मुझे रहम आता था और कम्पोटराइन के साथ युद्ध में विजय दिलाने के लिए मैं उनकी हर सहायता करने को सदा तत्पर रहता था।

पर फ़ोटो नहीं उतर सकी। इस बातचीत के तीसरे ही दिन चन्दू का पत्र आया, जिसमें सूचना थी कि कम्पोटराइन अपनी बेटी के यहाँ से लौटने के बाद सख़्त बीमार पड़ गयी हैं - उनके बचने की उम्मीद कम है। और, नानीजी ने ज़िद ठान ली कि वे आज ही प्रस्थान करेंगी गाँव के लिए। हमने बहुतेरा समझाया कि इतना घबराने की बात नहीं है, कम्पोटराइन ठीक हो जाएँगी; पर वे बोलीं - "न-न, पता नहीं, क्या हाल है बेचारी का - देखभाल भी उसकी होती है ठीक से कि नहीं!"

"क्यों, घर-भर आदमी हैं। देखभाल क्यों नहीं होगी?" हमने कहा।

"अरे, घर में उसे कोई पूछता है! कहा न, सब चाहते हैं कि मर जाए!" - नानीजी ने सफ़ाई दी।

"तो तुम क्या करोगी जाकर? अपनी देह तो तुम सम्भाल नहीं पातीं, उनकी क्या देखभाल करोगी!"

"अब जितना होगा, करूँगी ही। अपने से नहीं होगा, अपनी पतोहू-बहुओं से कराऊँगी। कुछ न होगा, तो आख़िरी समय उसके पास बैठी तो रहूँगी, एक गिलास पानी तो दे दूँगी उसे -

बेचारी सूखे गले तो नहीं मरेगी न!” नानीजी की आँखें भर आयीं।

“लेकिन मुझे कहाँ छुट्टी मिलेगी? मैं छोड़ने कैसे जाऊँगा तुम्हें?” - मैंने अपनी मजबूरी जतायी।

“मैं अकेली ही चली जाऊँगी। तुम गाड़ी में बैठा देना। वहाँ मैं उतर जाऊँगी। या फिर टेलीग्राफ़ दे देना चन्दू को, आकर उतार लेगा।” - नानी घिघिआयीं।

“लेकिन नानी, चौबीस घंटे का सफ़र है। बीच में बाथरूम-आथरूम जाओगी ही। अगर कहीं लड़खड़ा पड़ीं, तो?”

“उँह, इतनी क्या छुई-मुई हो गई हूँ मैं! और फिर मर जाऊँगी, तो मर जाऊँगी - छुट्टी होगी।”

“लेकिन नानी, गाड़ी में रिज़र्वेशन कहाँ मिलेगा आज का?”

“अब छोड़ रिजव-विजव। ऐसे ही बैठ कर चली जाऊँगी। बूढ़ी देख कर कोई-न-कोई बैठने की जगह तो दे ही देगा। चल, जल्दी कर!”

इस तरह, नानीजी एकदम तुल गयीं जाने पर। हमने लाख समझाया कि दो-चार दिन और रुक जाओ, पर वे न मानीं, न मानीं। आख़िर, मैंने एक परिचित रेलवे-कर्मचारी की मदद से थ्री-टायर में उनके लिए एक लोअर बर्थ रिज़र्व करायी और फिर चन्दू के नाम एक्सप्रेस तार भेज कर उन्हें गाड़ी पर बैठा दिया।

गाड़ी छूटने से पहले उन्होंने भरी आँखें लिये तीनों बच्चों को चूमा, प्यार किया, फिर मुझे तथा श्रीमतीजी को लक्ष्य करके बोलीं - “बेटा, ज़िन्दगी-भर की संगिनी है वह मेरी। एक-एक कर सब छोड़ गये उस ज़माने के लोग - सिर्फ़ यही एक बची है हमारे दुःख-सुख की गवाह। कहीं पीछे में यों ही मर जाएगी, तो न तो उसकी आत्मा को चैन मिलेगा, न मुझे। इसीलिए, नहीं तो इस तरह कभी न आती मैं। तुम लोग दिल छोटा न करना! ऐं? मैं पहुँचते ही चन्दू से चिट्ठी लिखवा दूँगी।” और, उन्होंने हौले से आँचल उठा कर अपनी ख़ुरदुरी झुर्रियों पर ढुलक आये आँसू पोंछ लिये।

असभ्य लोग

पिल्लै-दम्पति से हमारा प्रथम परिचय शर्माजी के घर हुआ था। उन दिनों हमें एक अच्छे फ़्लैट की बेहद ज़रूरत थी। पुराने मकान-मालिक को दी गयी एक महीने की नोटिस की मियाद समाप्ति पर थी और कोई नया फ़्लैट अब तक तय नहीं हुआ था। सड़क पर बैठने-जैसी नौबत आ गयी थी। हमारे पुराने मित्र शर्माजी को जो यह बात मालूम पड़ी, तो उन्होंने तुरन्त ख़बर भिजवायी कि उनके पड़ोस के मकान में एक फ़्लैट ख़ाली है; हम उसे देख लें। शर्माजी का मुहल्ला हमें पसंद था। ट्राम रास्ते से मात्र तीन-चार मिनट की दूरी, पढ़े-लिखे सभ्य लोगों का निवास और राजनीतिक हलचलों से लगभग अप्रभावित - कितनी ही हड़तालें हुईं, पर न तो वहाँ कोई जुलूस निकला और न कोई ट्राम, बस या कार ही जली। फिर, शर्माजी ने कहलवाया था कि फ़्लैट फ़र्स्ट फ़्लोर पर साउथ-फ़ेसिंग है। कलकत्ते में फ़र्स्ट फ़्लोर साउथ फ़ेसिंग फ़्लैट का वही महत्व है, जो टैक्सियों के बीच प्राइवेट कार का। सो, हम, अर्थात् मैं और श्रीमतीजी, उसी दिन शाम को शर्माजी के घर जा पहुँचे।

शर्माजी शाम को अक़्सर घर पर नहीं मिलते। मियाँ-बीवी

या तो सिनेमा देखने निकल जाते हैं, या किसी प्रदर्शनी के आयोजकों को कृतार्थ करने, या फिर किसी सभा-गोष्ठी के गाजर-मूली वक्ताओं से उलझने का रस लेने। कहते हैं, "जब तक बच्चे नहीं होते, शाम का आनन्द ले लें।" पर उस दिन दोनों न केवल घर पर थे, बल्कि उन्होंने एक चाय-पार्टी का आयोजन भी कर रखा था - पिल्लै दम्पति के सम्मान में। दुबले-पतले, किन्तु मूँछों के शौक़ीन, पिल्लै साहब और उनकी ढोलक-जैसी धर्मपत्नी, दोनों ही वहाँ मौजूद थे, जब हमलोग पहुँचे। शर्माजी को अतिथि-सत्कार में बड़ा आनन्द आता है। हम जो इस तरह बेमौक़े पहुँच गये, इससे उनका आनन्द, सच मानिए, दुगुना हो गया। दूसरा कोई होता, तो मन-ही-मन बुरी तरह कोसता हमें, पर शर्माजी ठहरे अद्भुत प्राणी, उनकी बाँछें खिल गयीं। उन्होंने लपक कर हमारा स्वागत किया और फिर पिल्लै दम्पति से हमारा परिचय कराया।

पिल्लै दम्पति शर्माजी के ही मकान में फ़र्स्ट-फ़्लोर पर रहते थे - बगल के मकान के उस फ़्लैट के ठीक सामने, जिसे हम देखने गये थे। इसलिए, हमें भी, स्वभावतः ही, उनमें रुचि हुई। फिर, वे थलचर नहीं, नभचर थे - किसी प्राइवेट कम्पनी के मालवाहक विमान का चालक होने के कारण गौहाटी और कलकत्ता के बीच का पूरा व्योमपथ उनका जाना-पहचाना था। उनकी श्रीमतीजी ज़रूर थलचर थीं और अपनी स्थूल काया के बावजूद एक स्थानीय

बालिका विद्यालय में व्यायाम शिक्षिका का पद गौरवान्वित कर रही थीं।

दक्षिणवालों से बात करने में अब मुझे थोड़ा भय होता है। मुँह से कहीं हिन्दी का कोई शब्द निकल गया, तो हाथापाई की नौबत न आ जाए; इसलिए उनसे उनकी मातृभाषा, अंग्रेज़ी में ही बात करने की मैं सावधानी बरतता हूँ; बहुत सोच-समझ कर एक-एक शब्द मुँह से निकालता हूँ। किन्तु पिल्लै साहब शायद बहुत दिनों से उत्तर में थे - अंग्रेज़ी बोलने में, मैंने लक्ष्य किया, उन्हें कठिनाई होती थी और अंग्रेज़ी के दो-तीन टूटे-फूटे वाक्यों के बीच वे हिन्दी का एक दाक्षिणात्य वाक्य ज़रूर घुसेड़ देते थे, ख़ास कर वहाँ, जहाँ अंग्रेज़ी का कोई मौजूँ शब्द उन्हें नहीं सूझता था।

शर्माजी ने शायद मेरी हैरत भाँप ली, बोले - “अरे भाई, ये राष्ट्रभाषा प्रेमी हैं, इनसे राष्ट्रभाषा में ही बात कीजिए!”

मुझे यह सुन कर कितनी ख़ुशी हुई, कह नहीं सकता। एक मेरा बालमित्र है रमण, जो तमिल-भाषी होते हुए भी हिन्दी को ही अपनी मातृभाषा मानता है और भाषायी दंगों के समाचार सुन कर जिसकी मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। वही मेरा सबसे आत्मीय और विश्वासी मित्र है। दूसरे निकले ये पिल्लै महाशय, जो थे तो केरलवासी मळयाळी, पर जिन्होंने हिन्दी को अपनी ज़ुबान पर इस तरह चढ़ा लिया था कि अंग्रेज़ी वहाँ आने में हिचकती थी। मैं उनका

मुँह ताकने लगा।

शर्माजी ने मेरे आश्चर्यमिश्रित आनन्द को और भी बढ़ा दिया, जब उन्होंने घोषणा की - “राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक हैं हमारे पिल्लै साहब। आप सोच रहे होंगे, मिस्टर पिल्लै भले हिन्दी बोल-समझ लें, मिसेज़ पिल्लै मळयाळम और अंग्रेज़ी ही बोलती होंगी। पर बात एकदम ऐसी नहीं है। ये मळयाळम का क ... ख ... ग ... भी नहीं जानतीं। ये बंगकन्या हैं और सच पूछिए, तो मिस्टर पिल्लै को हिन्दी सिखाने का श्रेय भी इन्हें ही है। ये आपस में हिन्दी में ही बातचीत करते हैं। आपकी गवर्नमेंट तो हिन्दी को सम्पर्क-भाषा बनाते-बनाते रह गयी, इन्होंने हिन्दी को सम्पर्क भाषा बना लिया।”

श्रीमती पिल्लै ने लजा कर सिर झुका लिया, फिर भी मैं उनके चेहरे से अपनी दृष्टि न हटा सका। उनकी स्थूलता ने उनके प्रति मेरे मन में जो एक वितृष्णा उत्पन्न की थी, उनकी सूक्ष्म बुद्धि ने उसे नष्ट कर दिया।

मैंने हर्षावेग में आकर कहा - “सुना था, पंजाब की महिलाओं ने वहाँ के पुरुषों को हिन्दी सीखने पर विवश किया था - प्रेमपत्र पढ़ने के लिए ही उर्दूदाँ पंजाबियों को हिन्दी सीखनी पड़ी थी। अब देखता हूँ, अन्य राज्यों की महिलाएँ भी पीछे नहीं हैं। वे अन्तर्राज्यीय स्तर पर हिन्दी का प्रचार कर रही हैं। वास्तव में, हिन्दी

प्रचार का काम केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, किसी पर बिना कुछ थोपे हुए। मैं सचमुच बहुत आभारी हूँ मिसेज़ पिल्लै का!”

इस तरह, पिल्लै-दम्पति से प्रथम परिचय बड़ा ही सुखद रहा। कहना चाहिए, उस दिन हमारे सितारे ही कुछ अच्छे थे। जो फ़्लैट शर्माजी ने दिखाया, वह हमें बेहद पसंद आया। उस मकान में ही एक गैरेज भी ख़ाली था, सो गाड़ी बाहर रखने के ख़तरे से भी मुक्ति की सम्भावना स्पष्ट हो गयी। कलकत्ते का क्या ठिकाना! फ़ुटबाल मैच में हारती है मोहन बगान की टीम और नाराज़ भक्त आग लगाने लगते हैं सड़क पर खड़ी गाड़ियों को! फिर, मकान-मालिक भी बड़े सज्जन निकले। एक तो उस मकान में रहते नहीं थे, दूसरे मैंने जितना किराया कम करने को कहा, उन्होंने चुपचाप मान लिया। एक किरायेदार को और चाहिए भी क्या! हमने उसी दिन एडवांस का चेक देकर, फ़्लैट बुक कर लिया।

कलकत्ते में मकान के मामले में मैं सचमुच भाग्यशाली रहा। एक साल के अन्दर मैंने चार मकान बदले, और बड़ी आसानी से बदले, हालाँकि तबादले की ख़बर पाकर जब अपनी ससुरालवालों और मित्रों को एक फ़्लैट ठीक कर देने को लिखा था, तब सबने इस तरह मायूसी ज़ाहिर की थी, मानो उनसे एक सप्ताह का राशन माँगा गया हो। तभी तो, दो मकान बदल कर तीसरे में आने पर जब एक साले साहब ने रोज़-रोज़ मकान बदलने की

शिकायत की थी, मैंने उत्तर दिया था - “वे मुहल्ले दिखा रहा हूँ तुम्हें, जहाँ किराये पर मकान मिलते हैं।” किन्तु तीसरे मकान-मालिक को नोटिस दे देने पर जब चौथा मकान मिलने में परेशानी महसूस होने लगी, तब लगा, मेरे अहंकार पर भगवान् की दृष्टि चली गयी है और अब इज़्ज़त मिट्टी में मिल कर रहेगी। पर भला हो शर्माजी का। उन्होंने मुझे न केवल संकट से उबार लिया, बल्कि एक ऐसा फ़्लैट दिलवा दिया, जहाँ से और कहीं जाने की मुझे ज़रूरत नहीं पड़ी। मेरे कलकत्ता-निवास की शेष अवधि उसी फ़्लैट में बीत गयी।

शर्माजी के यहाँ से लौटते समय हम दोनों ही बहुत ख़ुश थे। रास्ते-भर हम अपने भाग्य को तो सराहते ही रहे, पिल्लै-दम्पति की भी प्रशंसा करते गये। हमें लगा, नये मकान में जाने पर शर्माजी-जैसे मित्र तो पड़ोसी हो ही जाएँगे, पिल्लै-दम्पति-जैसे उदार राष्ट्रवादियों का भी साहचर्य प्राप्त होगा।

जैसे-तैसे करके पाँच-छः दिन बीते और पहली तारीख़ को हम अपने नये फ़्लैट में आ गये। यहाँ आकर, सच मानिए, पहली बार हमें लगा कि अपने घर में आ गये हैं, जहाँ विश्राम किया जा सकता है - पहले के तीन फ़्लैटों से इतना ही भिन्न था यह। वस्तुतः तीन साल पहले, जब दिल्ली छोड़ी थी, तब से ऐसे-वैसे मकानों में ही ज़िन्दगी बितानी पड़ी थी। कहीं मोज़ैक फ़्लोर का अभाव ख़लता

था, तो कहीं वॉश बेसिन और कहीं शावर बाथ का। एक-दो मकानों में तो हवा और धूप न आने की भी शिकायत थी। यहाँ सब-कुछ था - साफ़ हवा, पूरी धूप, मोज़ैक फ़्लोर, शावर, वॉश बेसिन, शेविंग मिरर, फ़्लश डोर, कॉल बेल, किसी चीज़ की कमी न थी। भूखे को जैसे रोटी मिल गयी हो, हमें यह फ़्लैट मिल गया।

जिस किसी ने कभी मकान बदला है, उसे ज्ञात है, सामान चाहे ठेले पर आए या टेम्पो पर, गृहस्वामी को लगता है, जैसे उसकी पीठ पर ही लद कर आया हो, और गृहस्वामिनी जब कि छितराये सामानवाले घर में हरारत दूर करने के लिए चाय बनाने को स्टोव पम्प करने लगती है, गृहस्वामी सीधे पसर जाना चाहता है। पर पसरने के लिए चाहिए पलंग और पलंग उस समय ख़ुले होते हैं। इसलिए पलंग कसने की ज़रूरत उसे सबसे पहले महसूस होती है। मैं भी उस समय पलंग ही कस रहा था, जब चाय बनाते-बनाते अचानक श्रीमतीजी आ धमकीं और बड़े उत्साह से बोलीं - “ऐ, देखा, पिल्लै ने कितना अच्छा पर्दा लगाया है अपनी खिड़की में?”

रेंच से नट कसते-कसते मैंने पूछा - “किस खिड़की में?”

“उसी अपने सामनेवाली में। चलो, उठो, देखो न!” और वे मुझे लगभग घसीटती हुई दूसरे कमरे में ले गयीं, जिसके ठीक सामने पिल्लै का एक कमरा पड़ता था और हमारे तथा उसके कमरों की एक-एक खिड़की आमने-सामने ख़ुलती थी।

देखा, हरे रंग का एक भारी डिज़ाइनदार पर्दा ऊपर से नीचे तक खिड़की को ढँके था। वैसे, मुझे दूसरों के पर्दों और पर्देवालियों में तनिक भी रुचि नहीं है, पर जब श्रीमतीजी इतनी दिलचस्पी दिखा रही थीं, तब चुप रहना उचित न लगा, बोला - "पहले यहाँ कैसा पर्दा था, कुछ याद नहीं पड़ता।"

"धन्य है तुम्हारी याद भी!" - श्रीमतीजी बोलीं - "पहले पर्दा कहाँ था इस खिड़की में!"

"ओ, नहीं था? हाँ, उस समय ज़रूरत भी क्या थी! यह फ़्लैट तो ख़ाली ही पड़ा था। पर्दा अच्छा लगाया है। पसंद अच्छी है पिल्लै की।" - मैंने कहा।

"हुँह, पिल्लै की पसंद! अरे, यह उसकी बीवी की पसंद होगी। बंगाल की लड़की है न। कलात्मकता बंगालियों के स्वभाव में ही होती है। इस बार हम भी ऐसे ही पर्दे लगाएँगे!" - श्रीमतीजी ने कहा और मैंने चुपचाप हामी भर दी।

पर श्रीमतीजी को संतोष न हुआ इससे, बोलीं - "तुम तो सिर्फ़ हाँ-हाँ कर देते हो, पर पर्दे लाने जाओगे, तो वही कॉटेज इंडस्ट्रीज़वाले उठा लाओगे। इस बार मैं लाऊँगी अपनी पसंद से। न होगा, मिसेज़ पिल्लै से पूछ लूँगी दुकान का पता!"

पर मिसेज पिल्लै से पता पूछना सम्भव न हो सका। दिन-भर तो वे दिखाई ही न पड़ीं और शाम को जब अपनी बालकनी में

दिखाई पड़ीं, तब श्रीमतीजी पर नज़र पड़ते ही वहाँ से हट गयीं। इसके बाद एक-दो दिन और श्रीमतीजी ने उनके दिखने का इंतज़ार किया, पर व्यर्थ। हाँ, तीसरे दिन उनकी बालकनी के हमारी ओरवाले अंश में एक पर्दा ज़रूर लग गया।

यह बात मेरी श्रीमतीजी को अपमानजनक लगी - अकारण ही ऐसी बेरुख़ी क्यों? उन्होंने श्रीमती शर्मा से इसकी चर्चा की, तो जवाब मिला - "अरे, मत पूछिए उसकी बात। मुहल्ले में किसी से उसकी बातचीत थोड़े ही है। उस दिन शर्माजी ही पता नहीं कैसे पकड़ लाये दोनों को, अन्यथा मुझसे भी बात थोड़े करती है। एक दिन क्या ज़रूरत पड़ी मुझे कि उसके घर चली गयी। विश्वास कीजिए, दरवाज़े पर से ही रुख़सत कर दिया - बिठाने की तो बात दूर, अन्दर आने तक नहीं दिया।"

"अच्छा?" - श्रीमतीजी जैसे आसमान से गिरीं - "यह तो भारी असभ्यता है।"

"असभ्यता होगी दूसरों के लिए, उसकी नज़र में तो इससे प्रतिष्ठा बढ़ती है। अभी उसी दिन की बात लीजिए न। मैं बाज़ार से लौट रही थी कि पानी बरसने लगा। रास्ते में ही पकड़ गयी। पर पास में छुपने की कोई जगह न थी, सो चलती गयी। तभी दोनों मियाँ-बीवी मेरी बगल से अपनी गाड़ी निकाल ले आये। इतना न हुआ कि पानी में भीग रही है - जरा लिफ़्ट दे दें। चार क़दम की तो

बात थी।”

“छि-छि-छि-छि!” मैं तो समझती थी, अच्छी औरत है। छिः! आख़िर इतनी शान भी किस बात की!” - श्रीमतीजी ने कहा।

“भई, शान क्यों न होगी। जल्दी ही तरक़्क़ी होने वाली है पिल्लै की। अभी एक हज़ार के ग्रेड में है, अब दो हज़ार के ग्रेड में जाएगा। फिर गाड़ी भी ख़रीद ही ली है। फ़्रिज, रेडियोग्राम, आदि भी हैं ही,” - श्रीमती शर्मा ने गिरी-गिरी आवाज में जवाब दिया।

“हुँह, फ़्रिज, रेडियोग्राम यहाँ नहीं किसके पास हैं? गाड़ी भी ख़रीदी है तो उन्नीस साल पुरानी, जो गाड़ी से अधिक छकड़ा है। और, ग्रेड बढ़ जाएगा, इससे पड़ोसियों का क्या बनता-बिगड़ता है? किसी को कुछ दे देंगे क्या? ज़रा सोचने की बात है। जितने भी लोग हैं आसपास, सबकी आर्थिक स्थिति लगभग समान है - अब उन्नीस-बीस तो लगा ही रहता है। हाँ, अगर कोई सोचे कि उसकी स्थिति बीस से बढ़ कर अचानक सौ हो गयी है, तो सौ वाले मुहल्ले में ही उसे चले जाना चाहिए। पड़ोसी क्यों सहेंगे किसी की शान? अरे, प्रेम से बात करोगी, करेंगे; नहीं तुम अपने घर ख़ुश, हम अपने घर। कौन देता है किसी को कुछ!”

“सब लोग यह बात नहीं समझते न!” - श्रीमती शर्मा ने कहा - “आजकल तरक़्क़ी अपनी और दूसरों की सुखसुविधा बढ़ाने के लिए नहीं चाहते लोग, चाहते हैं दूसरों को जलाने के लिए।

वैल्यूज़ इतने नीचे गिर गये हैं कि क्या कहा जाए!”

जीवन के मूल्य सचमुच कितने नीचे गिर गये हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें उसी रात को मिला। यही कोई साढ़े ग्यारह बजे होंगे कि अचानक एक चीख से मेरी भी नींद ख़ुल गयी और श्रीमतीजी की भी। नयी जगह, पता नहीं, क्या हो गया। हम साँस रोक कर अगली आहट की प्रतीक्षा करने लगे। प्रतीक्षा अधिक नहीं करनी पड़ी। कोई मिनट-भर बाद ही सुनाई पड़ा - “नईं-नईं, आज नईं। तुमको बोल दिया न?” आवाज़ श्रीमती पिल्लै की थी। वे तोतली बोली में मना कर रही थीं। किन्तु मना क्या इतनी ऊँची आवाज़ में किया जाता है?

माना, मेरे बेडरूम के सामने ही उनका बेडरूम है, किन्तु इतना तेज़ बोल कर क्या दूसरों को अपनी अत्यन्त निजी बातें सुनायी जाती हैं?

तभी एक ज़ोरदार ’धप्प’ की आवाज़ सुनाई पड़ी, जैसे किसी ने ताल ठोकी हो, और इसके साथ ही नारी-कंठ से निकला एक प्रकांड ’उफ़्!’ फिर जैसे कोई गुदगुदा रहा हो, श्रीमती पिल्लै बेतहाशा हँसने लगीं, हँसते-हँसते उनका दम फूल गया।

“आज तो अम बी नेई छोड़ेंगा!” - पिल्लै महाशय भी तोतली बोली में ही बोल रहे थे और उनकी आवाज़ इतनी तेज़ थी, मानो उनकी बीवी उनके पास न होकर दूसरे कमरे में हो।

’धप्प’, ’उफ़्’ और ’हु-हु-हु-हु’ का यह क्रम रुक-रुक कर इतनी देर तक चला कि हम ऊब गये। जहाँ थोड़ी झपकी आने लगती कि ’उइ-आय’ की एक तीखी आवाज कानों से घुस कर आँखें ख़ोल देती।

मैंने और श्रीमतीजी ने यही समझा कि दोनों आज ’बेहद मूड’ में हैं और इस कारण उन्हें लोक-लाज की परवाह नहीं रह गयी है। नयी-नयी शादी हुई थी उनकी, इसलिए हमने उन्हें माफ़ कर दिया।

पर उस दिन के बाद हर रात का यह सिलसिला बन गया। मैं चकित! पहले तीन दिन तो पूरी शांति रही थी, अब क्या हो गया इन लोगों को? समाधान श्रीमतीजी ने दिया - “उन दिनों वह छूत में थी। ’कपड़े’ मैंने बाहर सूखते देखे थे।”

और तब, एक दिन शाम को दफ़्तर से घर पहुँचते ही श्रीमतीजी ने बताया - “हद दर्जे के असभ्य हैं ये लोग तो! उस कमरे में बच्चों का जाना मुश्क़िल है!”

“क्यों, क्या हो गया है ऐसा?” - मैंने ’सावधान’ की स्थिति में आते हुए पूछा।

जवाब मिला - “इनका पर्दा देखने में तो मोटा लगता है, पर कमरे में बत्ती जलने पर अन्दर की हर चीज़ धुंधले रूप में दिखाई पड़ती है बाहर से। आज दिन में ही क्या देखा कि पिल्लै नंग-धड़ंग

अपनी बीवी के पीछे-पीछे दौड़ रहा है और वह बेशर्म केवल पेटीकोट पहने, ऊपर से बिल्कुल नंगी, भागी फिर रही है। अगर सुषमा ने, या कि कट्टू-बट्टू ने ही, देख लिया होता, तो? यह तो बड़ी बुरी बात है।”

बात श्रीमतीजी की ठीक थी। रात को हम उन्हें बर्दाश्त कर सकते थे, कर ही रहे थे, क्योंकि हमारी उम्र कच्ची नहीं थी; पर बच्चे यदि देखें यह सब, तो? मैंने कहा - “यह तो सचमुच बुरा है। कोई उपाय सोचना पड़ेगा।”

“हाँ, देखो न, दूसरी तरफ़ भी तो लोग रहते हैं, बोस-दम्पति की भी नयी-नयी ही शादी हुई है, पर ऐसा कुछ तो नहीं दिखाई पड़ता उनके यहाँ। यह तो अच्छा हुआ कि बच्चों का बेडरूम हमने उस तरफ़ रखा था, नहीं तो ... “

“ठहरो, शर्माजी से बात करूँगा इस बारे में। सोच-विचार कर ही कोई क़दम उठाना अच्छा होगा। है कि नहीं?” मैंने कहा और श्रीमतीजी ने अपनी स्वीकृति जतायी।

पर शर्माजी से बात करने के पहले ही बात हो गयी श्रीमती शर्मा से। थोड़ी देर बाद ही किसी काम से श्रीमती शर्मा आयीं, तो श्रीमतीजी ने यह प्रसंग छेड़ दिया।

श्रीमती शर्मा बोलीं - “सच? फिर तो आप लोग मुफ़्त का सिनेमा देख रहे हैं। भई, हमें भी दिखाइये न किसी दिन!”

यह लीजिए, आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास। श्रीमती शर्मा कहाँ निन्दा करतीं पिल्लै-दम्पति की, वे रस लेने लगीं उनकी बेहयाई में।

मैंने हँसते-हँसते कहा - "देखता हूँ कीलर कांड ने आपमें भी दिलचस्पी पैदा की है। ठहरिये, कहता हूँ शर्माजी से।"

वे बोलीं - "अरे, वे तो और शौक़ीन हैं। बैठ जाएँगे आकर; कहेंगे, देख-सुन कर ही जाऊँगा!"

"फिर तो गये काम से," मैं खिसियाई हँसी हँसा।

"नहीं जी, आप ऐसा कीजिए, टिकट लगा दीजिए शो का। कलाकार मुफ़्त के, पूरा-का-पूरा मुनाफ़ा ही समझिए!"

"सुझाव बुरा नहीं है आपका!" - मैंने कहा - "लेकिन अगर बच्चों ने शो में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी, तो?" श्रीमती शर्मा गम्भीर हो गयीं, बोलीं - "हाँ, यह तो बुरी बात होगी।"

"फिर क्या करूँ? पिल्लै से कहूँ इस बारे में?" - मैंने पूछा।

जवाब मिला - "एकदम बेकार! कोई असर नहीं होगा उन पर। देखते नहीं, रात को उनका रेडियोग्राम कितना तेज़ बजता है। सोते हैं इस कमरे में और रेडियोग्राम रख छोड़ा है दूसरे कमरे में। फिर आवाज़ इस कमरे में साफ़-साफ़ सुनाई पड़े, इसके लिए पूरा वॉल्यूम ख़ोल देते हैं उसका। अब हमारा बेडरूम उसी कमरे के नीचे है, जिसमें रेडियोग्राम बजता है। धमक से सोना मुश्क़िल हो जाता

है। कई बार शर्माजी ने कहा पिल्लै से, पर कोई असर नहीं। एक दिन यहाँ तक कह दिया कि मैं अपना ट्रांज़िस्टर दे देता हूँ आपको। अपने बेडरूम में लेट कर धीमे-धीमे सुनिएगा। पर जवाब क्या मिला, जानते हैं? 'ट्रांज़िस्टर तो मेरे पास भी है, पर उसकी आवाज़ का क्या मुक़ाबला रेडियोग्राम की आवाज़ से!' अब बताइए, आप क्या कहेंगे?"

सचमुच क्या कहेगा कोई ऐसे आदमी से! हम लोगों ने अपना भाग्य मान कर चुपचाप स्वीकार कर ली पिल्लै-दम्पति की बढ़ा-चढ़ी। फिर से मकान बदलने को हम तैयार न थे। आख़िर, दूसरे लोग भी क्या सोचते होंगे हमें बार-बार मकान बदलते देख कर!

लेकिन दूसरे लोग उनके बारे में क्या सोचते होंगे, इसकी परवाह पिल्लै-दम्पति को, ख़ास कर श्रीमती पिल्लै को, एकदम नहीं थी। एक रात कोई साढ़े बारह बजे होंगे कि अकस्मात नींद ख़ुल गयी। श्रीमती पिल्लै बरस रही थीं - "बड़ा भारी पाइलट बना है। हवाई जहाज़ उड़ाता है। उल्लू का माफिक काम करता है। हम पूछता है, गाड़ी ले के कहाँ गया था तुम? जहाँ गया था, जाओ ओहीं। एतना रात को आता है। बाप का नौकर समझ रखा है। एतना खेयाल नेही कि घर में कोई एंतजार करता होगा। अब बोलता है, खाके आया है। हम तुम्हारा सराध करने को खाना बनाया था

क्या? नहीं, तुम जाओ। जा के गाड़ी में सोओ। जाओ-जाओ, हम तुमको नहीं माँगता घर में। तुम अब्बी जाओ, निकल जाओ। ... “

पिल्लै महाशय बिल्कुल चुप, कोई आवाज़ नहीं। इतनी फटकार और गालियाँ सुन कर एक पिल्ला भी ’काँय-काँय’ करता, या कम-से-कम कुँकुआता, लेकिन पिल्लै साहब तो पिल्लै साहब - उन्हें एकदम साँप सूँघ गया। दूसरी ओर, श्रीमती पिल्लै का भाषण जारी था, मानो एक बड़े श्रोता समुदाय को लक्ष्य कर बोल रही हों - “नहीं, हम बोल देता है। हमारा-तुम्हारा नहीं चलने सकता। तुम बेशक निकल जाओ। तुम आवारा है; एतना रात तक आवारा का माफिक घूमता है। हम कल तुम्हारा हिसाब साफ कर देगा। कोई खेयाल नहीं दूसरों का। निर्लज्ज ... “

उनके मुँह से ये शब्द सुन कर हमें पहली बार महसूस हुआ कि - ’दूसरों का ख़याल’ और ’निर्लज्जता’ जैसे शब्दों से वे भी अपरिचित नहीं हैं। मन में आया कि उठ कर कहूँ - “आप भी दूसरों का ख़याल न कर चिल्लाये जा रही हैं।” लेकिन कहा नहीं; सोचा, अभी सारा ग़ुस्सा मुझ पर उतर जाएगा सो चुपचाप पड़ा रहा। कोई आध घंटे तक उनका भीषण भाषण चला और तब उनकी थोड़ी शान्त आवाज़ सुनाई पड़ी - “लो, दूध पियो। ... उँह, गोस्सा किया है। ... तब बोलेगा नहीं? लो, दूध पियो। ... ऐसा काम काहे करता है? ... लो, दूध पियो। हमारा भी तो कुछ ख़याल रखना चाहिए

तुमको। ... लो, दूध पियो। ... उँह, बड़ा गोस्सा है कि! ... लो, दूध पियो। ... नहीं पिएगा? तो जाओ, जाके गाड़ी में सोओ। हम सोने नहीं देगा एहाँ। ... लो, दूध पियो। ... उँह, नहीं बोलेगा, गोस्सा है। बड़ा गोस्सावाला है। ... लो, दूध पियो।" पिल्लै महोदय ने अन्ततः दूध पिया या नहीं, मुझे नहीं मालूम - दूध पिलानेवाली की मनुहार सुनते-सुनते ही मुझे नींद आ गयी। सवेरे उठा, तो श्रीमतीजी ने, जो रात को मेरी ही तरह दम साधे सारा कांड सुन रही थीं, बताया कि पूरे कांड की जड़ थे उनके 'कपड़े', जो पिछले तीन दिन से सूख रहे थे।

यह सारा विवरण अगले दिन श्रीमती शर्मा ने सुना, तो हँसते-हँसते दोहरी हो गयीं, फिर दौड़ी-दौड़ी शर्माजी को बुला लायीं और मुझे पूरा वृत्तान्त एक बार फिर दुहराना पड़ा। उनका भी हँसते-हँसते बुरा हाल, बोले - "तो दूध पिया या नहीं पिल्लै ने?"

"क्या पता, पिला ही दिया हो। डाँट तो ऐसे रही थी, जैसे पिल्लै पति न हो कर छोटा बच्चा हो!" - मैंने जवाब दिया।

"आख़िर, व्यायाम शिक्षिका है न।" - शर्माजी बोले - उससे जीतेगा पिल्लै? चाहेगी तो दाब कर घुट्टी पिला देगी।"

"अरे, पिल्लै भी वैसा ही है!" - श्रीमती शर्मा ने कहा - "देखा नहीं, जब गाड़ी ख़रीदने की सोच रहा था, तब क्या बोला था?"

"क्या बोला था?" - श्रीमतीजी ने उत्सुकता से पूछा।

श्रीमती शर्मा हँसने लगीं, हँसते-हँसते बोलीं - "कहने लगा - 'बॉडी' की मुझे परवाह नहीं; बस एंजिन ठीक होना चाहिए। शादी में भी, लगता है, उसने इसी सिद्धान्त का पालन किया है।"

सुन कर ख़ूब हँसे हम। प्रतीक बड़ा अच्छा बिठाया था श्रीमती शर्मा ने। श्रीमती पिल्लै की 'बॉडी' चाहे जैसी हो, एंजिन काफ़ी तगड़ा था, तीस हार्स पावर का। उनकी ज़ोर-ज़बर्दस्ती से यह बात सिद्ध हो जाती थी। चीखने-चिल्लाने में, वास्तव में, मुहल्ले-भर में उनका कोई सानी नहीं था। उनके यहाँ न तो कोई नौकरानी टिकती थी, न नौकर। और-तो-और, श्रीमती पिल्लै की माँ भी, जिनकी वे एकमात्र संतान थीं, जब कभी उनके घर आती थीं, रोकर ही जाती थीं। ऐसी स्त्री से उलझना, ज़ाहिर है, बुद्धिमानी की बात न थी। आधी-आधी रात को उनके भाषण से हमारी नींद टूट जाती, फिर भी हम कुछ न कहते। हर रात हमें लगता कि किसी कुलीन मुहल्ले में नहीं, वेश्याओं के मुहल्ले में रह रहे हैं, फिर भी चुप रहते। एक रात मैंने एक उपाय भी आज़माया - बत्ती जला कर खिड़की के सामने लिखने बैठ गया, ताकि वे निर्लज्जता-पूर्वक अपनी केलि-क्रीड़ा का प्रदर्शन न कर सकें, पर मुझे बुरी तरह हार माननी पड़ी - उस रात उनकी आवाज़ तो अन्य दिनों की अपेक्षा ऊँची रही ही, उनके आलाप-संलाप और क्रिया-प्रतिक्रिया का भी इतना वृहत् रूप

सामने आया, कि उनकी हर गतिविधि घोरतम रूप में स्पष्ट होती रही। मैंने मान लिया कि जो-कुछ भी वे करते हैं, उसे चुपचाप बर्दाश्त कर लेने के सिवाय कोई उपाय नहीं है।

पर उस दिन बर्दाश्त की सीमा आख़िर टूट ही गयी। सुषमा की स्कूल फ़ाइनल परीक्षा सिर पर थी, सो वह हमारे सोने के कमरे में दरवाज़ा बन्द कर पढ़-लिख रही थी। शाम को अकस्मात श्रीमती पिल्लै ने अपनी नौकरानी पर बरसना शुरू किया, और यह वर्षा जो शुरू हुई, तो मिनटों की सीमा पार कर घंटों पर पहुँच गयी। जब दो घंटे हो गये, तब सुषमा ने चिढ़ कर उनकी तरफ़ की खिड़की बन्द कर दी। बस, फिर क्या था! श्रीमती पिल्लै ने नौकरानी को छोड़ कर हमें अपना लक्ष्य बना लिया, चिल्लाने लगीं - "शान मारता है। मुँह पर जंगला बन्द करता है। जंगली कहीं का। ऐसा ही जंगली है तो जंगल में जा कर रहो - आदमी लोग का बीच में काहे को रहता है। बड़ा पढ़नेवाला बना है। सब पढ़ना ठीक कर देगा तुम्हारा। छोटा लोग है। नीच कहीं का। तुम्हारा जैसा कितना को देख लिया।" आदि-आदि।

रात को घर लौटा, तो श्रीमतीजी ने सारा कांड बताया।

मैंने पूछा - "तुम लोगों ने कोई जवाब तो नहीं दिया?"

उत्तर मिला - "नहीं, हम लोग क्यों लगें उसके मुँह? हमें क्या पता नहीं कि कैसी औरत है।"

“हाँ, उसे मुँह न लगाने में ही भलाई है। छोड़ दो पागल को। जो चाहे, बका करे!” - मैंने कहा।

“लेकिन आख़िर कब तक? हर बात की एक सीमा होती है।” - श्रीमतीजी का धैर्य जवाब दे रहा था।

“तब क्या करोगी? फिर मकान बदलोगी?” - मैंने पूछा।

“नहीं, मकान हम क्यों बदलेंगे? बदलना हो, तो वह बदले! मैंने उपाय ढूँढ़ लिया है।”

“उपाय?” - मैं चौंका - “क्या उपाय ढूँढ़ा है?”

श्रीमतीजी मुस्कुरायीं, बोलीं - “ये लोग रात को देर तक जागते है और सवेरे देर तक सोते हैं। खाना भी रात को ही बना कर फ़्रिज में रख देते हैं। ... “

“हाँ, तो इससे क्या हुआ?” मैं चकित।

“आज हम रेडियो बच्चों के कमरे से हटा कर उस कमरे में लगा देते हैं।”

“फिर?”

“फिर क्या? हम सवेरे छः बजे से रेडियो बजाना शुरू कर देंगे। बस, देखना, मज़ा आ जाएगा।”

“ओ!” - मैं मतलब समझ गया - “लेकिन दूसरों को भी तो इससे परेशानी होगी।”

“उँह, इसकी चिंता मत करो तुम। सब लोग परेशान हैं

उनसे। उन्हें ठीक राह पर लाने में हर कोई साथ देगा हमारा। श्रीमती शर्मा से मैं पहले ही बात कर चुकी हूँ। दरअसल, उन्हीं का सुझाव है यह!"

"फिर, ठीक है। करो ऐसा ही। देख लो, यह कर के भी!" मैंने अपनी सहमति दे दी।

अगली सुबह सचमुच बड़ा चमत्कारी परिणाम सामने आया। पूरे वॉल्यूम पर ख़ुले रेडियो ने पिल्लै-दम्पति को बेचैन कर दिया। श्रीमती पिल्लै गयीं ऊपर के तल्ले पर रहनेवाले अपने मकान-मालिक से शिकायत करने। मकान-मालिक पहुँचा शर्माजी के पास। शर्माजी ने पूरा विवरण दिया उसे, फिर मुझे भी बुलवा लिया वहाँ। मैंने पूरी रामकहानी सुना दी पिल्लै दम्पति की।

मकान-मालिक की भी सहानुभूति प्राप्त हो गयी हमें, किन्तु किया क्या जाए, यह उसकी समझ में न आता था, बोला - "किन्तु किसी को अपने घर में बात करने से कैसे रोका जा सकता है?"

मैंने पूछा - "फिर किसी को अपने मकान में रेडियो बजाने से ही कैसे रोका जा सकता है?"

तर्क ज़ोरदार था। उसे चुप हो जाना पड़ा।

अन्त में शर्माजी ने एक सुझाव दिया - "एक काग़ज़ पर शांति बनाये रखने और दूसरों की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखने

का प्रतिज्ञापत्र तैयार किया जाए और उस पर मैं, ये (यानी मैं), आप और पिल्लै हस्ताक्षर करें।"

बात मकान-मालिक को पसंद आ गयी। शर्माजी ने तुरंत एक प्रतिज्ञापत्र तैयार किया और हम तीनों ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये। फिर, मकान-मालिक ही उसे पिल्लै के पास ले गया, शायद उसे समझाया-बुझाया भी। पिल्लै ने हस्ताक्षर कर दिये और वह काग़ज़ वापस शर्माजी के पास आ गया।

इसके बाद, विश्वास मानिए, परिस्थितियाँ एकदम ही बदल गयीं। कहीं से न तो रेडियो का शोर सुनाई पड़ता, न रास-लीला का। श्रीमतीजी कभी-कभी कहतीं भी - "बेचारों का सारा खेल ही ख़त्म हो गया। अब तो उनलोगों की आवाज़ भी सुनाई नहीं पड़ती।"

मैं व्यंग्य करता - "तुम्हें पाप चढ़ेगा!"

"सच, किस तरह तुतला-तुतला कर बात करते थे दोनों, जैसे आठ साल के बच्चे हों। बेचारों का मुँह ही बन्द हो गया।" - श्रीमतीजी के स्वर में पश्चाताप स्पष्ट हो जाता।

कभी-कभी रात को मुझे भी एक अभाव का एहसास होता। लगता, अभी-अभी पिल्लै-दम्पति की चोंचलेबाजी शुरू हो जाएगी, पर ऐसा होता नहीं। लगातार छः महीने तक जो आवाज़ें मैं नित्यप्रति सुनता आया था, उनसे, मैंने महसूस किया, मुझे लगाव हो गया है। पर अब उनसे पुनः अपना कार्यक्रम आरम्भ करने को तो

कहा नहीं जा सकता था। दरअसल, उन्होंने अपना बेडरूम ही बदल लिया था - अब वे रेडियोग्रामवाले कमरे में ही, जिसकी बगल में कोई मकान नहीं था, सोने लगे थे।

कोई दो महीने इसी प्रकार बीते और तब डेढ़ महीने के लिए हम कलकत्ते से बाहर चले गये। जब लौट कर आये, तब सुना, इस-बीच बोस-दम्पति अपना फ़्लैट छोड़ कर चले गये और उनकी जगह एक नवविवाहित जोड़ी आ गयी है।

लेकिन इससे भी गम्भीर बात हमें अगले दिन बच्चों से सुनने को मिली। उन्होंने अपनी माँ को बताया कि रात इतना गुलगपाड़ा मचाते रहे बोस-दम्पतिवाले फ़्लैट के नये किरायेदार कि आधी रात तक वे सो न सके।

मेरे कान खड़े हो गये। निश्चय ही, पिल्लै-दम्पति की तरह हैं वे लोग भी और बच्चों का कमरा ठीक उनके सामने पड़ता है। मैंने श्रीमतीजी से कहा - “यह तो बहुत बुरा हुआ। एक पिल्लै से छुट्टी पायी, तो दूसरा पिल्ला आ पहुँचा। असभ्य लोग! गांगुली साहब (उस मकान के मालिक) से कहना ही पड़ेगा!”

लेकिन श्रीमतीजी ने अगले ही क्षण बात काट दी - “नहीं-नहीं, किसी से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। क्या सोचेंगे लोग? फिर, बेचारों की नयी-नयी शादी हुई है। हम क्यों दे बाधा?”

“फिर? बच्चों पर क्या असर पड़ेगा, कुछ सोचा है?” - मैंने

थोड़ा खीझ कर प्रश्न किया।

पर वे शांत ही रहीं, बोलीं - "कोई असर नहीं पड़ेगा बच्चों पर। हम उनका कमरा बदल देंगे। वे हमारे कमरे में आ जाएँगे और हम उधर चले जाएँगे। बस, समस्या हल!" बोल कर वे मेरा मुँह ताकने लगीं।

दो पल मैं चुपचाप विचार करता रहा उनके प्रस्ताव पर, फिर रहस्य हाथ आते ही मुस्कुरा पड़ा - "ओ, तो यह बात है!"

और, जवाब में श्रीमतीजी ने केवल मुस्कुरा दिया।

दिया जले भिनसार

हरभजन के घर से निकलते ही सुहानी सुबह डरावनी दुपहरी में बदल गयी। बिंदिया को ऐसा लगने लगा, जैसे खाट की बान टूट गयी हो और वह पल-पल नीचे धँसती जा रही हो। उसके चेहरे के चौबीस कैरेट सोने के रंग में चाँदी की सफ़ेदी मिलने लगी। फिर भी, वह करवट लेटी, चुपचाप उस पाँच फ़ुट ऊँचे दरवाज़े को एकटक देखती रही, जिसकी चौखट ने अभी-अभी हरभजन के कपाल की मज़बूती आज़मा कर बिंदिया के कमज़ोर कलेजे में एक तीखी-सी बर्छी घोंप दी थी। काश, वह बिंदिया की ओर न देख रहा होता - भुला न दिया होता उसने दरवाज़े के ठिगनेपन को, उसके कठोर अस्तित्व को।

कुछेक पल बाद बिंदिया की दृष्टि दरवाज़े से हटी और जा पहुँची दीवार के उस हिस्से पर, जहाँ से मिट्टी की ऊपरी, लगभग दो इंच मोटी, पर्त के एक बड़े-से चप्पे ने अवकाश ग्रहण कर कारबंकल घाव का-सा वीभत्स चित्र बना दिया था - बीस-पच्चीस खपरे के लाल-लाल टुकड़े साँप-जैसे झाँक रहे थे अन्दर से। बिंदिया ने उधर से भी दृष्टि फेर ली। वह सीधी लेट गयी।

अब उसकी आँखों के सामने लटक रहा था धुएँ से काला हुआ बदशक़्ल छप्पर, जिससे छोटी-बड़ी, सड़ी हुई, अनगिनत रस्सियाँ लटक रही थीं। “इन जर्जर रस्सियों पर टिकी है छप्पर की ज़िन्दगी।” एक विद्रूप-भरी मुस्कान उभर आयी बिंदिया के काग़ज़ी सफ़ेद होंठों पर। तभी अचानक ऊपर खपरों की खटर-पटर होने लगी। शायद कोई बिल्ली अपने विवशता-भरे कुकृत्य पर पर्दा डालने की कोशिश कर रही थी। अभी अगर पचकौड़ी होता, तो झट से गली या आँगन में निकल कर पत्थर फेंकने की मुद्रा में हाथ घुमा-घुमा कर, “धात्, धात्” और कुछ गालियों का उच्चारण करके, भगाता बिल्ली को। पर बिंदिया लेटी रही चुपचाप। अब तो, ख़ैर, मजबूरी थी, पर पहले भी, जब वह नीरोग थी, ऐसे मौक़ों पर उसने कभी भाग-दौड़ नहीं की थी। उसे कोई रुचि ही नहीं थी इन बातों में!

लेकिन अब बर्दाश्त कर सकना बिंदिया के वश से बाहर की बात थी। सिर की ऊँचाई पर, गली में ख़ुलनेवाली, कमरे की दो फ़ुट लम्बी और डेढ़ फ़ुट चौड़ी एकमात्र खिड़की से होकर आनेवाले एक गीत के बोल उसके कानों को भेदने लगे थे। उसने पूरी ताक़त लगा कर पुकारा - “मैया री!” और इसके साथ ही ख़ाँसी के आठ-दस मेहराये हुए फटाके फूट गये।

“आयी, बिटिया!” - जवाब मिला। पर मैया के दौड़ कर

आने तक बिंदिया का कमरा उस गीत के बोलों से भर गया था। गली-पार के मकान में मिसराइन अपना प्रिय गीत गा रही थीं :

जे दियरा जरे भिनसार बटोहिया का करिहे।
मोर रजवा भये दरबेस कँगनवा का करिहे।
अरे दियरा जरे ...

"बन्द कर दे, मैया, बन्द कर दे यह झरोखा!" - मैया के कमरे में घुसते ही बिंदिया ने विह्वलतापूर्वक अपनी दुर्बल वाणी में कहा और "अब्बे हंसा उड़ेगो अकास ... " के आगे के बोल गलियारे में दिग्भ्रमित-से मँडराने लगे ... बिंदिया बक्से में बन्द हो गयी थी।

मिसराइन को कितना प्रिय है यह गीत! दूसरी बड़ी लड़ाई में मारे गये सूबेदार मिसिरजी के शोक से उबरने के बाद से ही यह गीत उनके मिस्सी से काले हुए दातों के पर्दों पर चढ़ा हुआ है। बड़े दर्द से गाती हैं वे यह गीत। उस समय ऐसा लगता है, जैसे वे बहुत ही दीन हैं और उनके सीने में दर्द के सिवा कुछ है ही नहीं। हालाँकि मिसिरजी इतना-कुछ छोड़ गये हैं अपने पीछे कि मिसराइन हाथ-पर-हाथ धरे पचास साल तक मज़े से खा-पी सकती हैं, फिर भी न-जाने कौन-सी भूख सताती है उन्हें। यह शरीर की भूख, निश्चय ही,

नहीं है, क्योंकि इसकी शांति की कला चुस्त-चतुर मिसराइन ने तभी सीख ली थी, जब मिसिरजी पहली बार लाम पर गये थे। और, उनके वे पुराने मीतगण अब तक अपनी मैत्री निभा रहे हैं। सन्तान का भी अभाव नहीं है उन्हें - उनका बेटा अब आठ साल का हो रहा है। फिर भी, वे अकेली और अभावग्रस्त क्यों अनुभव करती हैं? कौन-सा संताप दाहता है उन्हें कि गेहूँ पीसते, चावल फटकते और सिलाई-बुनाई करते समय यह गीत छेड़ बैठती हैं, और बिंदिया के सीने में सोयी कोई कसक जाग उठती है - उसका अपने पर क़ाबू नहीं रह जाता? इस एक गीत के ही चलते बिंदिया अपने कमरे का यह बेडौल झरोखा हमेशा बन्द रखती है। पर हरभजन की तो जैसे जान ही बसती है इसमें। मकान का एकमात्र झरोखेवाला कमरा होने के ही कारण वह बिंदिया को यहाँ ले आया है, और कहता है, चौबीसों घंटे झरोखा ख़ुला रहना चाहिए। उसका दम घुटने लगता है इसे मुँदा देख कर, और नज़र पड़ते ही वह इस तरह फटाफट ख़ोल देता है इसे, जैसे इसी राह से बिंदिया की तपेदिक के कीड़े उड़ कर भागेंगे - नहीं सोचता वह कि इससे होकर आनेवाले विषैलै वाण उसके जर्जर फेफड़ों को क्षत-विक्षत कर डालेंगे। दुनिया-भर में झरोखे आशा-प्रदायिनी रवि-रश्मियाँ और शीतल बयार लाते हैं, पर यहाँ रही-सही आशा की ज्योति को भी ढँक लेनेवाला धुआँ आ घुसता है। बिंदिया नाराज़ भी तो नहीं कर सकती हरभजन को,

अन्यथा उसने अपना कमरा कभी का बदल लिया होता।

... ...

किसी को नाराज़ न करने की इस नीति ने ही तो बिंदिया की यह दशा की है। कब हुई है उसके मन की? सदा ही किसी-न-किसी की इच्छा ने उसकी अपनी इच्छा को कुचला है। क्या-क्या सोचा था उसने अपनी ज़िन्दगी के बारे में - प्रोफ़ेसर बनने की कितनी साध थी उसे। पर हुआ क्या? जब वह आठवीं कक्षा में थी, तभी उसकी माँ ने वर की खोज शुरू की और दसवीं में पहुँचते-पहुँचते उसकी शादी हो गयी पचकौड़ी से। कितना चीखी-चिल्लायी थी वह इस शादी की बात पर, लेकिन सब व्यर्थ। एक प्राइमरी स्कूल की शिक्षिका, उसकी विधवा माँ ने आँखों में आँसू भर कर जब उससे कहा कि ग़रीबी प्रोफ़ेसर बनने से कहीं पहले उसे निरावरण करके बाज़ार में खड़ा कर देगी, तब वह निरुत्तर हो गयी और अपने से तिगुनी वय के पचकौड़ी की तीसरी बहू बन कर उसे इस मकान में आना पड़ा, जहाँ उसकी अपनी किराने की दुकान थी, चार-चार किरायेदार थे, फिर भी पचकौड़ी ग़रीब था, अकेला था - अपना बच्चा गोद खिलाने की कितनी उत्कट अभिलाषा थी उसकी। दो-दो स्त्रियों के चरण दाबे थे उसने सिर्फ़ इस एक कामना की पूर्ति के लिए, पर भगवान् की वे बेटियाँ भी अपने पिता की ही तरह निर्दय

थीं - उसे भूखा-प्यासा छोड़ कर पीहर चली गयीं। “सब साली बंजर-वीरान ही पड़े हैं मेरे गले। देखूँ, अब यह पंखरू-अलबेली भी कुछ उगले है कि बालू बन कर मेरी कमाई ही पिए है!”- बिंदिया से विवाह निश्चित हो जाने के बाद, एक दिन नमक की पुड़िया बाँधते-बाँधते, पचकौड़ी ने बूढ़े कलुआ तेली से कहा था।

केवल भूमि ही फ़सल नहीं देती, बीज का भी कुछ मोल होता है - यह बेचारे पचकौड़ी को क्या मालूम! उसने ज़मीन रेहन रख कर लोगों को कर्ज़े दिये थे, और फिर दूसरों के खेतों में उपजी फ़सलों का सौदा किया था - जुताई-बुवाई से नाता ही क्या था उसका। वह तो, बस, यह जानता था कि जैसे दो दूने चार होते हैं, वैसे ही मर्द गुने औरत बराबर बच्चा होता है, और अगर बच्चा न हो, तो इसमें ’घी के लड्डू’ मर्द बच्चे का कोई कसूर! अपने पिछले जन्म के पापों के ही चलते औरत बाँझ होती है - कोई मर्द भी बंझा हुआ है आज तक? और फिर, पचकौड़ी के तो बंझा होने का कोई सवाल ही नहीं हो सकता था - उसका हर रुपया साल में एक-दो नये रुपयों को जन्म दे देता था। अगर उसके रुपयों को उसकी बहुएँ हाथ लगा देतीं, तो, पचकौड़ी को पूरा विश्वास था, वे भी बाँझ हो जाते। “काश, औरतों के बिना ही बच्चे भी पैदा किये जा सकते।” - पचकौड़ी कभी-कभी मन-ही-मन बुदबुदाता और फिर स्वयं ही विहँस भी पड़ता - “तब पूछता कौन उन्हें? कौन देता खाने को?

भूख-प्यास से तड़फड़ा कर राम नाम सत्य नहीं हो जातीं?" दरअसल, बचपन से ही उसे केवल पैसे को महत्व देना सिखाया गया था। पैसे के अलावा न कहीं उसकी दृष्टि जाती थी और न मन दौड़ता था। पैसों को ही उसने सृष्टि की धुरी मान लिया था।

बिंदिया को आज भी याद है सुहागरात का वह दृश्य, जब पचकौड़ी आकर खाट पर, उसके पास, बैठ गया था और उसका घूँघट उठाने की कोई कोशिश किये बिना ही बोलने लगा था - "तू नहीं समझ सके है कि मेरे कलेजे में कैसी आग जले है। परमू ने सब-कुछ दिया, लेकिन एक औलाद नहीं दी। औलाद खटरस भोजन का सुआद होय है, री भागवान - कौन जाने, तुझे पता होय भी कि नहीं। कहीं किताब-उताब में पढ़ा होय, तो पढ़ा होय। ... बस, अब तेरो भरोसा है। बड़ी उमीद लेकर आये हैं तेरो पास। अगर साध पूरन कर दे हमारी, तो सच्छात लक्ष्मी मान के पूजा करूँ तेरी। ... तो चल, शुरू करें आज से ही ओनामासी ...।" और पचकौड़ी ने बिना किसी प्यार-उपचार के बिंदिया को बिस्तर पर पटक दिया था। बिंदिया का घूँघट अब तक पड़ा था अपनी जगह। पटकने के बाद ही पचकौड़ी ने थर-थर काँपती बिंदिया के चेहरे पर से घूँघट उठाया था, और तब उसके मुँह के निकट आते ही दुर्गन्ध के मारे बिंदिया को उबकायी आने लगी थी। उसने पूरी ताक़त लगा कर अपने चेहरे को कपड़े से ढँक लिया था - बाक़ी शरीर की उसे कोई परवाह नहीं

रही थी। और, इतने से ही पचकौड़ी का काम चल गया था।

वस्तुतः यह काम चलना ही मुख्य बात थी पचकौड़ी के जीवन में। उसकी हर गतिविधि किसी-न-किसी काम से सम्बद्ध होती थी - सोद्देश्य होती थी। हर चीज़ का अधिक-से-अधिक लाभ उठाने में ही वह बुद्धिमानी समझता था। तभी तो, शहर के एक छोर पर बसे इस मुहल्ले में, जो शहर से अधिक गाँव था, वह अपने मकान का भी भरपूर लाभ उठाता था। उसके मकान में कुल चार कमरे थे और उसके पिता के समय तक उनसे एक पैसा भी किराया नहीं आता था। उसके पिता ने एक कमरे में दुकान ख़ोल रखी थी, दूसरे में वह सपत्नीक रहता था, तीसरा उसने पचकौड़ी और उसकी पत्नी को दे रखा था और चौथे में रसोई बनती थी। लेकिन ज्यों ही बूढ़े ने आँखें मूँदीं, पचकौड़ी ने बाहरी बरामदे को दो दुकानी कमरों में बदल दिया और एक में स्वयं अपनी दुकान रख कर दूसरा एक दर्ज़ी को दे दिया। अन्दर भी उसने कुछ उलट-फेर किये - एक कमरा अपने और अपनी पत्नी के लिए रखा और दूसरा विधवा माँ को दे दिया। रसोई की व्यवस्था माँ के ही कमरे में कर दी गयी। इस तरह, अन्दर के दोनों कमरे किराये पर उठा दिये गये। और, जब माँ भी स्वर्ग सिधार गयी, तब दूसरे किरायेदारों की तरह उसने अपनी भी रसोई की व्यवस्था भीतरी बरामदे में ही कर ली और वह कमरा किराये पर उठा दिया। तब से यही व्यवस्था चलती रही थी और

महीने में पच्चीस-तीस रुपये उसे बिना किसी परिश्रम के मिल जाते थे।

ऐसे पचकौड़ी से भला कैसे पटती बिंदिया की। विवाह से पहले ही पचकौड़ी पसन्द नहीं था उसे - उसने अपना विवाह नहीं, बलिदान किया था माँ की इच्छा पर। और अब, पास आकर उसने जो रंग-ढंग देखे पचकौड़ी के, तो उसकी नापसन्दगी के नफ़रत में बदलने के सिवा कोई चारा न रहा। लेकिन इस नफ़रत को व्यक्त कर सकना सम्भव नहीं था उसके लिए। माँ के कठोर नियन्त्रण में बीते बचपन, और किताबों तथा समय-समय पर माँ द्वारा दिये जानेवाले उपदेशों ने नैतिकता के एक ऐसे जाल में उलझा दिया था उसे कि भीतर-ही-भीतर छटपटाने के अलावा वह कुछ नहीं कर सकती थी। किरायेदारिनें कभी-कभी पचकौड़ी की निन्दा करने लगतीं, तो उनसे सहमत होने के बावजूद वह रोष दिखा कर वहाँ से हट जाती। जब वे सहानुभूति दिखातीं उसके प्रति, तब सुख मिलने पर भी वह उन्हें नारी के त्याग-उत्सर्ग की धार्मिक कहानियाँ सुना देती। किरायेदार और पास-पड़ोस के छोकरे कभी-कभी छेड़खानी कर देते उससे और उसमें उसे एक अजीब मधुरता अनुभव होती, पर अगले ही क्षण वह खीझ उठती उन पर और उपचेतन में बैठे आदर्शों की तुला पर तौल कर उन्हें आवारा-गुंडा मान लेती - उनसे बचने का अपना निश्चय और दृढ़ कर लेती। ऐसे आवारों-गुंडों से

उसे बेहद नफ़रत थी। नफ़रत उसे पचकौड़ी से भी थी, पर उसकी हर इच्छा पर वह आत्मसमर्पण कर देती - अपनी इच्छाओं को वह धीरे-धीरे विष खिला कर सुला रही थी।

लेकिन उसकी अपनी इच्छाओं की हत्या से क्या होने वाला था। जीवन-मरण तो उसका माना जाता है, जिसका अस्तित्व स्वीकार किया जाए। कितने ही कीटाणु हवा में तैरते हैं और कितने ही हमारी श्वास-क्रिया के अनन्तर समाप्त हो जाते हैं, पर उन पर किसी ने ध्यान दिया है आज तक! फिर, मात्र अस्तित्व की स्वीकृति ही किसी को महत्वपूर्ण भी नहीं बना सकती। किसी लावारिस कुत्ते, बिल्ली या चूहे की मौत ने शायद ही किसी को परेशान किया हो। परेशान तो आदमी उनके जीवन-मरण से होता है जिनसे उसका स्वार्थ प्रभावित होता है। पचकौड़ी को मतलब था केवल अपनी इच्छा की पूर्ति से, और इसके लिए वह सब-कुछ करने को तैयार था। तभी तो, विवाह के साल-भर बाद भी जब बिंदिया ने पुण्यवती होने के कोई लक्षण न दिखाये, तब पचकौड़ी ने होम-जाप, पूजा-पाठ, आदि कराये। लेकिन बिंदिया के पाप बहुत ही बड़े थे। अतः एक साल और बीत जाने पर पचकौड़ी उसे तीर्थ कराने ले गया। अयोध्या के एक पहुँचे हुए महात्माजी ने बिंदिया को पाप से उबार देने का वचन भी दिया पचकौड़ी को, पर बिंदिया ने एक नया पाप कर डाला वहाँ - उसने बन्द कमरे में योग क्रिया के लिए तत्पर

महात्माजी के सिर पर उन्हीं का चिमटा इतना कस कर मारा कि बेचारे ख़ून से लथपथ गिर कर बेहोश हो गये। इसके बाद पाप से मुक्ति भला कैसे सम्भव होती! निदान, गले पड़ी बिंदिया को दासी की तरह रखने के लिए पचकौड़ी मजबूर हो गया। अपनी कमाई-रूपी तेल को बालू की तरह सोखनेवाली बिंदिया को वह बात-बात पर डाँटता, तरह-तरह की यन्त्रणाएँ देता, समय-बेसमय ताना भी देता कि 'इतने दिनों में तो बिलाई भी तीन-चार बियान दे दे है' लेकिन बिंदिया न जाने किस चिन्ता में खोयी रहती - उसकी आँखें भी जैसे बाँझ हो गयी थीं।

लेकिन दूसरों की आँखों के साथ तो ऐसी बात नहीं थी। उनकी आँखें अक्सर गीली हो उठतीं बिंदिया की दुरवस्था देख कर। इस बीच एक किरायेदारिन से बिंदिया की कुछ आत्मीयता भी हो गयी थी। और, वह जब भी मौक़ा पाती थी, बिंदिया को समझाती थी कि उसे दुनियादारी सीखनी चाहिए और किसी तरह एक बच्चा पैदा करके पचकौड़ी की नाक में नकेल डाल देनी चाहिए। इस तरह, वह पचकौड़ी पर शासन करने के साथ-साथ ज़िन्दगी के मज़े भी ले सकेगी। लेकिन बिंदिया के दिमाग़ में कभी न अँट सकी यह बात। वह अपने धर्म से गिरना नहीं चाहती थी - गिरने के नाम से ही उसे पसीना छूटने लगता था, लोक-मर्यादा उसके पाँवों की बेड़ी बन जाती थी। एक बार वह थोड़ी दुर्बल भी हुई, पर दूसरे ही क्षण उसके

मानस-पट पर उन गुंडों के चित्र उभर आये, जिन्होंने अपनी सेवाएँ अर्पित करने के लिए समय-समय पर, भिन्न-भिन्न ढंग से, आवेदन-निवेदन किया था, और वह घृणा से भरकर बुदबुदा उठी - "उन गुंडों की शय्यासंगिनी! छिः! थू है ऐसे जीवन पर। मुझे वेश्या नहीं बनना!" उसे लगा कि वह एक शिखर पर खड़ी है, जिसके चारों ओर गन्दे-बदबूदार पानी का समुद्र फैला है और गुंडे उसमें उज-बुज कर रहे हैं। "उस गन्दी खाई में गिर कर जीने से कहीं अच्छा इस शिखर पर भूखी-प्यासी मर जाना है।" - उसका निश्चय और भी दृढ़ हो गया।

इसी बीच वह किरायेदारिन भी मकान छोड़ गयी। उसके पोस्टमैन पति का किसी दूसरी जगह तबादला हो गया था और उसे मकान छोड़ना पड़ा था। अपनी इस एकमात्र सखी के विछोह से, स्वभावतः ही, बिंदिया को कष्ट हुआ और उसने भरे हृदय से उसे विदा दी। अब वह किसी से भी अपने मन की बातें नहीं कह सकती थी। लेकिन कुछ दिन बाद ही उसे लगा कि वह गयी, यह अच्छा ही हुआ। उसके साथ बातचीत के क्रम में प्रायः ही उसकी दशा का विश्लेषण होने लगता था और इसके फलस्वरूप उसका असन्तोष कुलाँचे मारने लगता था; वह घबरा उठती थी और अपने जीवन के अन्धकार को दूर करने के लिए ग़लत-सही कुछ भी करने की सोचने लगती थी। उसके जाने के बाद से यह क्रम रुक गया था और

वह परिस्थिति की मीमांसा करने के बजाय गुमसुम बैठी रहती थी - उसका दिमाग़ कुंद हो जाता था और वह पहलेवाली परेशानी से बच जाती थी।

लेकिन किरायेदार के जाने से पचकौड़ी की परेशानी बढ़ गयी थी। हर शाम उसे तीन-साढ़े तीन आने के घाटे की याद आती थी और अगले दिन किसी-न-किसी किरायेदार को घर में बसाने का वह निश्चय करता था। इसी तरह बारह दिन बीत गये, और तब तेरहवें दिन उसने गली में झपटी जा रही भगजोगिन महरिन को पुकारा - “अरे रामपियारे की महतारी, एतना गोस्सा भी आख़िर कौन काम का! कभी तो टोला-मोहल्लावालों की ख़बर लिया करो।”

अधेड़ भगजोगनी के पाँवों में जैसे अचानक फन्दे पड़ गये। वह लड़खड़ा कर दुकान की ओर मुड़ गयी और लजाती-लजाती पास आकर बोली - “अरे सावजी, का बताऊँ। काम के मारे नाक में दम है!”

“अरे, तो बुरा क्या है! चाँदी बटोर रही हो। भगवान् ऐसे ही काम दिये रहें तोरे। ... कहो, कुसल तो है न?” - पचकौड़ी ने आत्मीयता दर्शाते हुए कहा।

“सब किरपा है रामजी की!”

“रामपियारे तो नौकरी करे है न?”

“हाँ, अभी तक तो करे है। बाकी उसकी मति-गति के तो राम ही मालिक हैं। कौन जाने, कब का करे!”

“अरे, कुछ नहीं, तू निश्चिंत रहो। हाँ, पोता-पतोहू तो मज़े में हैं?”

“हाँ, ठीके हैं। वैसे खोंखी-सर्दी तो लगे रहे है!”

“हाँ, ई तो हई!” - बोल कर पचकौड़ी ने धागे की कमानियों और रुपहले बार्डरवाले अपने चश्मे को तनिक हिलाया-डुलाया, फिर कहा - “अरे, एक काम था तोरे से। तू तो घर-घर आती-जाती हो। टोला-मोहल्ला की ख़बर रहे है तोरे पास ... ”

अब तक भगजोगनी के कान खड़े हो गये थे, आँखें एकदम जम गयीं थी पचकौड़ी पर, अभिमान से सीना भी थोड़ा तन गया था। वह बोली - “हाँ, हाँ, बताओ न। ज़रा जल्दी है हमें। ... “

“अरे, अपनी एक कोठरिया खाली है कै दिन से। पूरे दू रूपय्या का नोक्सान हो गया। कोई किरायेदार होय, तो लाओ। कुछ तो हमारा भी खेयाल करो!” - बोल कर पचकौड़ी ने एक दीन दृष्टि भगजोगनी पर डाली।

“है तो एक बेचारा, लेकिन कौन जाने, तोरे रुचे कि न रुचे।” - बोलते-बोलते भगजोगनी रुक गयी।

“काहे, काहे, पूरी बात तो बोलो। कुँवारा है का?”

“हाँ, पढ़निहार है बेचारा। कलेजा में पढ़े है, लेकिन अब

का बताऊँ, उसकी नजर, समझो, धरती से नहीं उठे है। एकदम गऊ समझो। छौ महीना से अकलू महाजन के घुड़सार में टिको है - सात रुपया महीना पर। टिउशन कर-करके बेचारा पढ़ाई-लिखाई करे है। कहो, तो लाय दूँ।"

अकलू महाजन से पचकौड़ी का जन्मजात बैर था, सो एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना वह बोल उठा - "हाय, हाय, ई भी पूछन की बात है। आज ही ले आओ। बेचारा पढ़निहार का यह हाल! ई देस का कौन हवाल होयगो? ... ले आओ बेचारे को। हम छौ रुपय्या में ही सुत्थर-सात्थर कोठरी दे देंगे।"

और इस तरह, हरभजन का पचकौड़ी के घर में प्रवेश हुआ। हरभजन इस बात से ख़ुश कि एक रुपया कम में ही उसे घुड़साल से अच्छी जगह रहने को मिल गयी और पचकौड़ी को अपने कमरे के किराये में एक रुपये की वृद्धि का हर्ष। लेकिन इस एक रुपये के पीछे वह एकदम दीवाना हो गया हो, बात ऐसी नहीं थी। उसने कमरा देने से पहले हरभजन को अच्छी तरह चेता दिया कि उसके घर में अपनी बहू है, दूसरे किरायेदारों की भी बहू-बेटियाँ हैं - इसलिए नज़र इधर-उधर नहीं उठनी चाहिए - जिस दिन उठी, उसी दिन बाहर कर दिए जाओगे। साथ ही, उसने यह भी जता दिया कि मुहल्ले के कई आवारा लड़के उसके पैसे पर पलते हैं।

लेकिन, दरअसल, इन धमकियों की कोई ज़रूरत थी ही

नहीं। हरभजन की नज़रें यों ही इतनी कमज़ोर थीं कि ऊपर नहीं उठती थीं। मामा के गाँव की लड़की चम्पा ने कुछ कम तंग किया था उसे, पर हुआ क्या? आख़िर में उसे ही तंग आकर अपनी कोशिशें छोड़नी पड़ीं। हरभजन को अपनी ग़रीबी-लाचारी का पूरा-पूरा ध्यान था, बल्कि ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान था। एकाध बार मित्रों द्वारा परेशान किये जाने पर उसने, बस, इतना कहा था - “मामा के पैसे पर पलने-पढ़नेवाले अनाथ लड़के के लिए ये सब चीज़ें नहीं बनीं!” उसके सामने अपने भविष्य का कार्यक्रम स्पष्ट था। वह पढ़-लिख कर जीवन में सुव्यवस्थित होना चाहता था और इसी कारण आवाराग़र्दी से पूरी तरह दूर रहता था। यह उसके भविष्य का कार्यक्रम ही था, जिसके कारण उसने अपने मामा को असन्तुष्ट किया और मैट्रिक पास करने के बाद आगे पढ़ने के लिए, बिना किसी सहारे के ही, इस शहर में चला आया।

लेकिन उसकी इस सादग़ी-भलमनसाहत ने जहाँ पचकौड़ी और दूसरे किरायेदारों को अभयदान दिया, वहीं बिंदिया को कमज़ोर बनाना शुरू किया। वह दिन-दिन कमज़ोर पड़ने लगी। हरभजन में वह सब-कुछ था, जो बिंदिया को पसन्द था। उसमें पढ़ने-लिखने की रुचि थी, आत्मविश्वास था, चरित्र था, हार्दिकता थी। वह भी उसी शिखर का निवासी था, जिस पर बिंदिया खड़ी थी - गन्दा-बजबज समुद्र देख कर उसे भी उबकायी आती थी। फिर,

वह जवान भी था - बिंदिया का हमजोली! लेकिन एक शिखर पर होने के बावजूद वह बिंदिया के पास न आया - बिंदिया को भी उसके पास जाने की हिम्मत न हुई। दोनों दो समानान्तर रेखाओं की तरह चलते रहे अपनी राह। कोई भी रेखा वक्रता के लिए तैयार नहीं थी - शायद वक्र होने की हिम्मत-भी नहीं थी उनमें। लेकिन हाँ, दोनों को सम्बल अवश्य मिला एक-दूसरे से!

हरभजन को पचकौड़ी के घर में रहते एक साल हो गया था। फिर से जाड़े की ऋतु आ गयी थी। दो महीने बाद हरभजन की इंटरमीडिएट की परीक्षा थी, सो वह ज़ोर-शोर से पढ़ाई में लगा था। शाम का समय तो ट्यूशनों में निकल जाता था, इसलिए रात के एक-एक, दो-दो बजे तक उसे पढ़ाई करनी पड़ती थी। उन्हीं दिनों पचकौड़ी को एक बारात में जाना पड़ा। बिंदिया अपनी कोठरी में अकेली रह गयी। लेकिन उसका अकेलापन निरापद था, यह बात पचकौड़ी भी जानता था और दोनों किरायेदार भी। एक दिन तो उनमें से एक ने हरभजन के सीधेपन का मज़ाक उड़ाते हुए अपने एक मित्र से यहाँ तक कह दिया था - "पूरा बछिया का ताऊ है - बम भोला। सहुआइन तो बौराई फिरती है उसके पीछे, लेकिन उसके भेजे में भरा है गोबर। पता नहीं, कैसे पढ़ता-लिखता है!" ये वही सज्जन थे, जिन्होंने शुरू में 'छुट्टा साँड़' को घर में किरायेदार बनाने के लिए पचकौड़ी को बुरा-भला कहा था। ख़ैर, तो जिस दिन

पचकौड़ी बारात में गया, उस रात तो कुछ न हुआ, पर अगले दिन रात के कोई बारह बजे जब बिंदिया आँगन जाने के लिए उठी, तो उसे हरभजन के कमरे में दिया जलता दिखाई पड़ा। उसके मन में तुमुल संघर्ष छिड़ गया - 'हाँ' और 'नहीं' के बीच जम कर उठा-पटक होने लगी; और अन्त में आँगन से लौटते समय बिंदिया ने दबे पाँव हरभजन के कमरे में प्रवेश कर दरवाज़ा उठँगा दिया।

हरभजन ने किताब पर से नज़र उठायी, तो हक-बक। वह गूँगे-सा देखने लगा बिंदिया की ओर, पर यह देखना भी क्षणिक ही रहा। बिंदिया ने लालटेन के पास पहुँच कर उसकी बत्ती इतनी नीचे कर दी कि कुछ देखना सम्भव न रहा। हरभजन के दिल की धड़कन और बढ़ गयी - उसका रोम-रोम हरि को भजने लगा। लेकिन बिंदिया में ग़ज़ब का साहस भरा था आज। उसकी फ़ौलादी रेखा अन्तर की लपटों से लाल होकर आज मुड़ गयी थी - हरभजन की रेखा तक पहुँच गयी थी। पास आकर बिंदिया ने धीरे-से, किन्तु गम्भीर स्वर में, पूछा - "तुम्हें अजीब-सा लग रहा है न?"

हरभजन हकला कर रह गया, कुछ बोल न सका।

बिंदिया ने ही पुनः प्रश्न किया - "तुम मुझे ग़लत तो नहीं समझ रहे?"

"उहूँ!" - अनजाने में ही हरभजन के मुँह से हल्की-सी ध्वनि निकल गयी।

“एक बात पूछने आयी हूँ तुमसे! बताओगे?”

“बोलो!” - हरभजन की वाणी काँप रही थी!

“सिर्फ़ किताबों की ही भाषा समझते हो, या कुछ और भी? वह पढ़ाई किस काम की, जो किसी के दिल का दर्द न पढ़ सके?” - बिंदिया के स्वर में असाधारण दृढ़ता थी।

“मैं सब जानता हूँ, सहुआइन!” - हरभजन ने किसी तरह जवाब दिया।

“सहुआइन नहीं, बिन्दु, बिंदिया ... हाँ, क्या जानते हो? इस साल-भर में क्या पढ़ा है?”

“यही कि तुम दुःखी हो - तुम्हें दुःख बँटानेवाला साथी चाहिए” - अब हरभजन के स्वर में कम्पन नहीं था।

“और कुछ नहीं?”

“हाँ, एक बात और!”

“क्या?”

“यह कि वह साथी तुम मुझे बनाना चाहती हो!”

“तब क्या कहते हो?”

“कहना क्या है, वह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ। मैं समझता था, मेरी आँखों से, मेरे व्यवहार से, तुमने पहले ही जान लिया है!”

“हाँ, अन्दाज़ लगाया था, पर तुम्हारे मुँह से सुनना चाहती

थी। ... फिर?”

“फिर क्या? अब बाक़ी ही क्या रहता है?”

“एक नये संसार का निर्माण - सुखद भविष्य की ओर यात्रा। अकारण ही गलना-मरना क्या उचित है?”

“लेकिन यहाँ कारण है। हमें अपने आदर्शों से गिरना नहीं चाहिए। अपने जिन गुणों के कारण हम एक-दूसरे की ओर आकर्षित हुए हैं, उनकी हत्या करके क्या हम ’हम’ रह सकेंगे? ... हमें अपने आदर्शों के लिए बलिदान करना ही पड़ेगा। तुम अकेली नहीं हो, मैं भी तुम्हारे साथ हूँ। ... “

“लेकिन ... “

“लेकिन कुछ नहीं, बिन्दु! कमज़ोर मत बनो तुम! जानती हो, कमज़ोरी अपने सिवा किसी को नहीं भाती!”

“वह तो है, लेकिन यहाँ हम कैसे मिल सकेंगे एक-दूसरे से? क्या यह ख़तरे से ख़ाली होगा?”

“मिलने-जुलने की ... ” तभी बरामदे में किसी की पदचाप सुनाई पड़ी और हरभजन का दिल पीपल के पत्ते की तरह काँपने लगा। उसके मुँह की बात मुँह में ही रह गयी और कान पदचाप के साथ-साथ चलने लगे। कुछेक मिनट यही हाल रहा - ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे। और तब, पदचाप आँगन से लौट कर बरामदे में होती हुई दूर निकल गयी; फिर किवाड़ बन्द होने की

आवाज़ सुनाई पड़ी। अब कहीं हरभजन की जान-में-जान आयी। फिर भी, कुछेक सेकंड वह गुमसुम रहा और तब फुसफुसाया - "देखा? ये सब ख़तरे हैं मिलने-जुलने में। मुझे अपनी फ़िक्र नहीं है उतनी, जितनी तुम्हारी इज़्ज़त की फ़िक्र है। इसलिए मैं तो समझता हूँ कि हमारे लिए इतना विश्वास ही काफ़ी है कि हमारे दुःख-सुख का कोई साझीदार भी है। एक-दूसरे को दूर से देख कर ही हमारी पीड़ा समाप्त हो जाएगी।"

"लेकिन हम अपने मन की बातें कैसे कहेंगे एक-दूसरे से?" - बिंदिया ने कठिनाई जतायी।

"अब हम कहेंगे कुछ नहीं, बिन्दु, सिर्फ़ समझेंगे।" - हरभजन ने परमज्ञानी की भाँति जवाब दिया - "तुम पूरा विश्वास रखो मुझ पर। मेरी आत्मा छाया की तरह तुम्हारे साथ रहेगी। मैं हर पीड़ा समझूँगा तुम्हारी। आज से दूर रह कर भी एक रहेंगे हम। ... अब जाओ, फिर कोई उठ न जाए। बेकार में बदनाम न हो जाओ तुम।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा!" कहते हुए बिंदिया ने अपनी हथेली हरभजन के होंठों से लगा दी; पर हरभजन ने दो उँगलियों से पकड़ कर जब उसे माथे से छुला लिया, तब बिंदिया ने झुक कर उसका माथा चूम लिया और फिर धीरे-धीरे वह कमरे से बाहर हो गयी।

उसके जाते ही हरभजन को लगा, जैसे एक बड़ा बोझ

उतर गया हो सिर से। उसने लालटेन की लौ तेज़ की, एक झटके से रज़ाई फेंकी और दो डगों में दरवाज़े तक पहुँच कर साँकल चढ़ा दी। लेकिन दरवाज़े से लौटते समय ठंड से उसके हाथ-पाँव जमने लगे और किसी तरह सिकुड़ते हुए खाट पर आकर उसने सिर तक रज़ाई ओढ़ ली। अब उसे याद आया कि माथे से सटी बिंदिया की हथेली कितनी ठंडी थी। उसका मन मसोसने लगा कि सिर्फ़ एक साड़ी में लिपटी वह उतनी देर खड़ी रही थी उसके पास - कितना कष्ट हुआ होगा उसे। लेकिन तभी उसके होंठों का स्पर्श जीवन्त हो उठा - होंठ तो बड़े गर्म थे उसके! क्यों ... क्यों ... उसने कोशिश की रहस्य को समझने की, पर किसी निष्कर्ष पर न पहुँच सका। और तब, आज की विकट परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए वह शाबासी देने लगा अपने-आप को। अपने असाधारण होने की कल्पना से उसका रोम-रोम पुलक उठा। लेकिन अब और पढ़-लिख सकना सम्भव न था उसके लिए - बिंदिया उसके दिल-दिमाग़ पर छा गयी थी।

उस रात बड़ी देर तक हरभजन सोचता रहा बिंदिया के बारे में। आगे भी कई दिन वह परेशान रहा उसकी समस्या लेकर। तरह-तरह की बातें आयीं उसके मन में। कई बार कमज़ोर भी हुआ वह। लेकिन अन्त में, घूम-फिर कर, वह अपनी पुरानी जगह ही आ पहुँचा - “नहीं, बिंदिया पत्नी है किसी की, और जब तक वह किसी की पत्नी है, तब तक उसके शरीर से मेरा कोई नाता नहीं हो

सकता। हमारा प्यार तब तक विशुद्ध आध्यात्मिक रहेगा। पथभ्रष्ट नहीं होना है हमें - साधारण नहीं बनना है। यह वासना है, जो बिंदिया को भी कमज़ोर बना रही है और मुझे भी - जो हमें पथभ्रष्ट करने पर तुली है। नहीं, हमें बचना ही होगा इससे। प्रेम और वासना दो अलग चीज़ें हैं। मैं दिखाऊँगा कि वासना के बिना भी प्रेम सम्भव है। हमारा प्रेम आदर्श होगा। वह मर मिटेगी अपनी मर्यादा की वेदी पर, और मैं ... मैं प्रेम की बलिवेदी पर। अपने को मिटा कर ही तो कोई आदर्श बनता है!"

लेकिन बिंदिया की अवस्था कुछ दूसरी थी। उसने किताबों के अलावा दुनिया भी देखी थी। वह जानती थी कि धूप-छाँव से भरी दुनिया के निवासी के जीवन में भी धूप-छाँव होगी ही। विधि के विधान में औचित्य-अनौचित्य, दोनों हैं, इसलिए मनुष्य में भी औचित्य और अनौचित्य, दोनों ही होंगे। सिद्धान्त और व्यवहार का अन्तर उसके समक्ष दोपहर दिन की भाँति स्पष्ट था, और चूँकि वह जीना चाहती थी, इसलिए व्यवहार से आँखें नहीं मूँद सकती थी। जब से हरभजन उसकी नज़र में आया था, तब से उसके विचारों में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया था, उसमें साहस बढ़ गया था, उसकी जीने की साध बढ़ गयी थी। पचकौड़ी को छोड़ कर किसी मनपसन्द आदमी के साथ भाग निकलने में उसे कोई दोष नज़र नहीं आता था। वह सोचती थी - "दुनिया ने इतने काम मेरी मर्ज़ी के

ख़िलाफ़ किये और मैं एक भी काम उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ नहीं कर सकती? क्यों? ... यह जीवन मेरा है, इसका ख़रा-खोट मेरा है, फिर क्यों न इसे अपना मनचाहा रूप दूँ? यदि समाज कुछ भला नहीं कर सकता मेरा, तो बुरा ही करने का क्या अधिकार है उसे? ... नहीं, मुझे जीना है। अब तक समाज की मर्ज़ी के मुताबिक जीती रही, अब अपनी मर्ज़ी के मुताबिक जिऊँगी। कहते रहें लोग, जो कुछ चाहें।"

बिंदिया को हरभजन पसन्द आया था और उस रात अपना मन्तव्य व्यक्त करने के बाद उसने सोचा था कि हरभजन जब ठंडे दिमाग से सारी बात पर सोचेगा, तब उसे अपनी दिशा बदलनी पड़ेगी। युवावस्था-सुलभ दुर्बलता भी उसे बाध्य करेगी इसके लिए। अतः हर दिन उसने बड़ी आशा से हरभजन की आँखों में देखा, पर उनमें पीड़ा और करुणा के सिवा कुछ न दिखाई पड़ा - वह चमक न आयी उसकी आँखों में, जो आग से खेलनेवालों की आँखों में दिखाई देती है। सो, अन्त में, निराश होकर बिंदिया को किसी ऐसे हरभजन की खोज में लगना पड़ा, जिसकी आँखों में वह चमक भी हो। इस क्रम में पड़ोस के मुंशीजी के लड़के शिवराज के साथ वह थोड़ी दूर चली भी, पर निकटता के पहले ही दिन जब उसने उसे आलिंगनबद्ध कर लिया, तब वह अकुला उठी - ख़री-खोटी सुना कर उसने अलग कर लिया उसे और उसका नाम भी उन गुंडों की

सूची में दर्ज हो गया, जो बिंदिया को फूटी आँखों भी नहीं सुहाते थे। इसके बाद बिंदिया की तलाश धीमी पड़ गयी - उसने तक़दीर के आगे तदबीर की दुर्बलता स्वीकार कर ली। शनैः शनैः उसकी आँखों में भी चमक का स्थान पीड़ा और करुणा ने ले लिया। इसके साथ ही उसका स्वास्थ्य भी गिरने लगा और साल बीतते-न-बीतते उसने ख़ाँसी-बुख़ार को अपना साथी बना लिया।

हरभजन को जब मालूम हुआ कि बिंदिया केवल ख़ाँसती ही नहीं रहती, उसके सीने में दर्द और तन में ताप भी रहता है, तब अपना मुँह ख़ोलने के लिए वह मजबूर हो गया। अब केवल समझने से काम नहीं चल सकता था। वह भूल गया मर्यादा की वेदी पर बिंदिया के मर-मिटने की बात और अक्सर पचकौड़ी से कहने लगा कि वह डाक्टर से उसकी जाँच करवा ले। पर पचकौड़ी ने हर बार दुत्कार दिया उसे - "अरे, अब का खोंखी-बुखार भी न हो किसी के। का जमाना है। दू अच्छर पढ़े नहीं कि डाँगडर-दवाई चढ़ी जुबान पर। न-जाने किताबन माँ यही पढ़े हैं कि का। अरे, सौ दवाई की एक दवाई है बनप्सा। बस, पीती रहे चुपचाप। सब ठीक हो जाएगो।"

लेकिन हर दवा हर किसी को थोड़े ही फ़ायदा पहुँचाती है। जिस साल हरभजन ने खींच-खाँच कर बी. ए. पास किया, उसी साल बिंदिया के सीने में दर्द, ख़ाँसी और बुख़ार में ख़ून की उल्टी

का भी योग हो गया और तब सबने एक स्वर से कहा - “राजरोग!” डाक्टर ने भी पुष्टि की इस घोषणा की और बिंदिया को सेनेटोरियम भेजने की राय दी। लेकिन पचकौड़ी बेचारे के पास इतना पैसा कहाँ था! बुढ़ापे में समय-कुसमय काम आने के लिए कुल दस ही हज़ार की तो नक़दी, ज़ेवर, वग़ैरह थे उसके पास - उन्हें पचपन साल की ही अवस्था में कैसे फूँक देता वह! उधर, हरभजन भी दरिद्र था। बी. ए. पास करने के बावजूद उसे एक सरकारी दफ़्तर में कुल सत्तर रुपये महीने पर लोअर डिवीज़न क्लर्क की नौकरी मिली थी। सो, घर में ही बिंदिया के इलाज की व्यवस्था करने के अलावा कोई चारा न रहा।

बिंदिया की बीमारी सचमुच राजरोग थी। उसने उसे एक राजरानी के अनुरूप सर्वसाधारण से दूर कर दिया। महीने-भर के अन्दर ही हरभजन के अतिरिक्त, घर के अन्दर रहनेवाले दोनों किरायेदारों ने मकान बदल लिया। पास-पड़ोस की औरतों ने पचकौड़ी के घर आना बन्द कर दिया। पचकौड़ी के ग्राहक उसकी दुकान से डरने लगे। स्वयं पचकौड़ी ने भी राजरानी से दूर हट जाने में ही अपनी भलाई देखी और उसे एक दूसरे ख़ाली कमरे में भेज दिया। राजरानी की सेवा और देखभाल के लिए उसकी माँ को बुलवा दिया उसने - यही कुछ कम था? यों, पचकौड़ी चाहता तो यह था कि बिंदिया को उसकी माँ अपने पास ही ले जाए, पर

नौकरी करते हुए वह अपनी बेटी की सेवा नहीं कर सकती थी और नौकरी छोड़ने पर दानों के लाले पड़ जाते। सो, पचकौड़ी को मजबूरन उसे अपने घर में जगह देनी पड़ी।

एक तो, सन्तानहीनता का शोक, दूसरे पत्नी को राजरोग! ज़ाहिर है, सुख-चैन छिन जाता पचकौड़ी का। अब वह दुकान पर बैठा-बैठा अक्सर बड़बड़ाता रहता - “ससुर जहमत आय पड़ो हमार माथे। पंडितो सब कमीना हैं साले - घूस लेके बियाह कराय देत हैं। न देखिहें साइत, न देखिहें सगुन - बस, कर लेवो चटपट बियाह और दे देओ हमार दच्छिना। ... अब देखो, मुर्दवो के पालो और उनकी मइयो के। हे भगवान्, कौन पाप किये रहे हम! ससुर सब लुटात जात हो हमरे अँखियों के आगे। अब का? अब तो पचकौड़ी पाँच कौड़ी के हो जइहें!”

लेकिन बकने-भूकने के अलावा अब उपाय भी क्या था उसके पास। उधर वह बकता-भूकता रहता और इधर बिंदिया ख़ाँसती रहती। उसकी दवा का इंतज़ाम कर रखा था हरभजन ने - बहाना यह कि उसकी जान-पहचान के एक डाक्टर मुफ़्त में ही इलाज कर रहे हैं। अपनी तनख़्वाह के सत्तर रुपये में से तीस-पैंतीस रुपये वह बिंदिया की दवा पर ख़र्च कर रहा था। बाक़ी रुपये खाने-पीने और कमरे का किराया देने में चले जाते थे। लेकिन एक बात थी - अब बिंदिया से उसके मिलने-जुलने में कोई रोक-टोक नहीं

थी। दफ़्तर जाने से पहले और उसके बाद उसका अधिकांश समय बिंदिया के ही पास बीतता था। लेकिन पचकौड़ी एकदम उदासीन हो बिंदिया की तरफ़ से - ऐसी बात भी नहीं थी। रोज़ सवेरे शौच के लिए जाते समय वह एक बार बिंदिया के दरवाज़े पर खड़ा होकर उससे या उसकी माँ से उसका हाल ज़रूर पूछ लेता था। उसके बाद फिर समय ही कहाँ मिलता था उसे? दुकान ही तो सारा समय खा जाती थी - यहाँ तक कि खाना भी उसे वहीं मँगवा कर खाना पड़ता था।

बिंदिया के चलते बेचारे पचकौड़ी को टोले-मुहल्ले से अलग होना पड़ा - यह कोई कम सालनेवाली बात नहीं थी। बिना किसी कसूर के दंड मिले, तो किसे क्षोभ न होगा, दुःख न होगा। फिर, पचकौड़ी की तो जीविका भी छिन गयी थी। वह दिन-भर दुकान की रखवाली करता था; 'हनुमान-चालीसा' का पाठ करता था, सवेरे-शाम लक्ष्मी की पूजा भी करता था, पर लक्ष्मी के वाहन, ग्राहक, उसके घर में बैठी पापिष्ठा के कारण उधर रुख़ ही नहीं करते थे। सबने तज दिया था उसे।

पर एक हद तक साम्यवाद के समर्थक चोरों ने उसे नहीं तजा। एक रात वे बड़े प्रेम से उसके घर में घुसे और सन्दूक के साथ-साथ ज़मीन के अन्दर बन्दिनी लक्ष्मी को मुक्त करके अपने साथ ले गये। पहलेवाले दिन होते, तो चोर क्या, चोर के बाप भी

नाग के रहते ख़ज़ाने तक नहीं पहुँच सकते थे। पर इधर, ग़म ग़लत करने के लिए, पचकौड़ी ने हर शाम थोड़ी-बहुत ताड़ी पीनी शुरू कर दी थी, और उस रात वह उसी के नशे में बेसुध पड़ा था। दूसरे दिन सुबह सोकर उठते ही उसने जो हाल देखा अपने कमरे का, तो उसे बिजली का करेंट लग गया। अपनी जीवन-भर की आराध्या का वियोग उससे एकदम ही सहन न हो सका - अपनी छाती पर एक ज़बर्दस्त मुक्का मारा उसने और फिर कभी न उठने के लिए धरती पर लोट गया। जहाँ लक्ष्मी न हो, वहाँ भला कैसे रह सकता था पचकौड़ी!

पचकौड़ी की मृत्यु के बाद हरभजन की ज़िम्मेदारी आशातीत रूप से बढ़ गयी। अब वही एकमात्र सहारा था बिंदिया का, उसकी माँ का। अब तक तो उस पर बिंदिया के इलाज का ही भार था, पर अब माँ-बेटी के खाने-पहनने का भी भार आ पड़ा। उधर तनख़्वाह थी थोड़ी। लेकिन हिम्मत नहीं हारी उसने। वह एक आदर्श प्रेमी था - अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्णतः जागरूक प्रेमी। उसने मुसीबतों से लड़ कर बिंदिया को मौत के मुँह से निकालने का निश्चय किया और चार ट्यूशन पकड़ कर अपनी आमदनी में चालीस-पैंतालीस रुपये की वृद्धि की। इस तरह, पचकौड़ी का अभाव पूरा कर दिया उसने। दरअसल, बिंदिया के जीवन के हर अभाव को वह पूरा करना चाहता था। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि

अब तक बिंदिया ने जितना दुःख भोगा था, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक, वह सुख भोगे। अब वह अपने को सक्षम भी पाता था इसके लिए - बिंदिया अब किसी की पत्नी जो नहीं थी, केवल उसकी प्रेमिका थी और कल उसकी पत्नी भी बन सकती थी।

उसी भावना से अभिभूत होकर कुछ दिन पहले उसने बिंदिया को चूमना भी चाहा था, पर बिंदिया ने उसे अपने दुर्बल हाथों से रोक दिया था, कहा था - "पागल मत बनो, हरि! यह शरीर अब किसी काम का नहीं रहा - सड़े हुए कूड़े से भी बदतर है यह।"

"तुम बेकार हिम्मत हारती हो, बिन्दी। बहुत जल्दी अच्छी हो जाओगी तुम, बल्कि हो गयी हो!" - हरभजन ने उसे समझाया था, आशा दिलायी थी - "देखना, साल बीतते-न-बीतते तुम एकदम नीरोग हो जाओगी, और तब ... तब सारी दुनिया को दिखा कर मैं शादी करूँगा तुमसे, फिर बच्चे होंगे अपने, हमारे प्रेम को देख कर जलेगी सारी दुनिया ... " बोलते-बोलते हरभजन रुक गया था। बिंदिया के होंठों पर खेल रही निरीह-विद्रूप-भरी मुस्कान ने उसे चौंका दिया था। उसने पूछा था - "क्यों, तुम्हें विश्वास नहीं होता मेरी बातों पर?"

"यह बात नहीं है, हरि," - बिंदिया ने जवाब दिया था।

"फिर ऐसे मुस्कुरा क्यों रही थीं?" - पूछा था हरभजन ने।

"तुम्हारी बातें अच्छी लग रही थीं, इसीलिए!" - बिंदिया ने

बात टालनी चाही थी।

“नहीं, नहीं, कोई और बात थी। बोलो न, क्या सोच रही थीं तुम?” - हरभजन ने ज़िद की थी।

बिंदिया गम्भीर हो गयी थी, बोली थी - “यमराज सावजी से दुर्बल नहीं है, हरि। बस, जितना पुण्य है मेरा, उतने दिन तुम्हारे दर्शनों का सौभाग्य मिल रहा है। फिर तो ... “ और बिंदिया का स्वर अवरुद्ध हो गया था, आँखें डबडबा आयी थीं।

बिंदिया की आँखों में जैसे सारा संसार जलमग्न हो गया था और हरभजन डूबने-उतराने लगा था उसमें - संज्ञाहीन-सा, तिनके-सा।

उस दिन के बाद हरभजन ने वैसी कोई बात नहीं कही बिंदिया से - चुपचाप, मनोयोगपूर्वक, सेवा करता रहा उसकी। यमराज को हराने के बाद, बिंदिया को अपने सपने का साकार स्वरूप दिखाने का ही उसने निश्चय कर लिया था; पर अब उसका वह निश्चय भी लड़खड़ा गया था - डाक्टर ने बिंदिया को टी. बी. के तीसरे स्टेज में घोषित कर दिया था। फिर भी, हिम्मत हारने को वह तैयार न था। बिंदिया की आख़िरी साँस तक वह यमराज से लड़ने वाला था। सवाल बिंदिया की बीमारी का नहीं था उतना, जितना उसकी अपनी आदर्शनिष्ठा का था।

...   .

झरोखा बन्द हो गया, तो बिंदिया को कुछ राहत मिली। उसने आँखें बन्द कर लीं अपनी। पर आँखों का बन्द होना था कि एक नील पट आ उपस्थित हुआ उसकी अन्तर्दृष्टि के समक्ष, और उस पर उभरने लगे तरह-तरह के सजीव चित्र। एक-एक करके कई चित्र गुज़र गये उस पर से और तब एक अद्भुत दृश्य सामने आया। बिंदिया ने देखा, चीथड़ों में लिपटी, एक भोली-सी लड़की एक वीरवेशधारी युवक के सामने गिड़गिड़ा रही है, मिन्नतें कर रही है, अपनी प्राण-रक्षा के लिए शरण माँग रही है - और वह वीरवेशधारी युवक एक फटी-पुरानी पुस्तक पढ़-पढ़ कर उसे समझा रहा है कि पूरी सहानुभूति होने और उद्धार की पूर्ण क्षमता रखने के बावजूद वह हत्यारे के हाथ से उसकी रक्षा इसलिए नहीं कर सकता क्योंकि उसी ने उसे नदी से छान कर निकाला था और इस तरह, उसके जीवन पर उसी का अधिकार है। हाँ, अगर हत्यारा न आए, या उसे मुक्त कर दे, तब वह उसे शरण अवश्य देगा। तभी हाथ में गँड़ासा लिये एक लँगड़ा-डरावना-सा व्यक्ति आता है और लड़की का हाथ पकड़ लेता है। वीरवेशधारी युवक रोमांचित हो उठता है, उसका दायाँ हाथ तलवार की मूठ पर जाता है, थोड़ी-सी तलवार बाहर भी निकल आती है, लेकिन तभी उसकी दृष्टि बायें हाथ की जीर्ण-शीर्ण

पुस्तक पर जाती है और वह सजल-नयन होंठ काट कर रह जाता है। हत्यारा रोती-चिल्लाती लड़की को घसीटता हुआ आगे बढ़ने लगता है। ...

इससे आगे बिंदिया कुछ न देख सकी। वह घबराहट से भर गई; उसका कमज़ोर दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा; वह भय के मारे चिल्ला उठी - “मैया री!” वह पसीने से तर-ब-तर हो रही थी।

आवाज़ सुनते ही मैया दौड़ी आयी, परेशानी से भर कर बोली - “क्या हुआ, बेटी? इतनी घबराई हुई क्यों हो?”

“मेरा दम घुट रहा है, मैया!” - बिंदिया ने हाँफ़ते हुए कहा - “ख़ोल दे झरोखा। जल्दी कर!”

मैया में जैसे बिजली की गति भर गयी। उसने पल-भर का भी विलम्ब किये बिना झरोखे के दोनों पट ख़ोल दिये और मिसराइन की स्वर-लहरी से सारा कमरा भर उठाः

अब्बे हंसा उड़ेगो अकास भेखजवा का करिहे।
दुअरा पर डोलिया-कहार दुल्हिनिया चल परिहे।
जो दिया जरे भिनसार ...

सब्ज़ी सस्ती मिलती है

श्रीमतीजी का सवाल सुन कर मुझे थोड़ी परेशानी हुई। परन्तु फिर सोचा कि शायद किसी से शर्माजी के पद के बारे में चर्चा हुई होगी और इन्हें उनके पद की ठीक-ठीक याद नहीं रही होगी, इसीलिए पूछ रही हैं। सो, मैंने कहा - “ईश्वर को धन्यवाद! तुममें भी भुलक्कड़पन आ रहा है! वे समाचार-सम्पादक हैं, इतनी-सी बात तुम भूल गयीं?”

लेकिन इस बात का कोई जवाब न दे कर श्रीमतीजी ने दूसरा सवाल किया - “वे लेख-वेख भी लिखते हैं न?”

मैंने कहा - “आज कैसी बहकी-बहकी बातें कर रही हो! कितना अच्छा लिखते हैं वे! साहित्य में उनका अच्छा स्थान है!”

“और उनकी तनख़्वाह कितनी है - तुमसे कम या ज़्यादा?” - तीसरा सवाल हुआ।

इस तीसरे सवाल ने मुझे चौंका दिया। मैं समझ गया कि मुझ पर ही कोई हमला होने वाला है - यह उसी की भूमिका है! पत्रकार-साहित्यकार की बीवियाँ भी तो थोड़ा पैतरा बदल कर ही सामने आना पसन्द करती हैं! लेकिन अब करता क्या? फँस जो

चुका था! आसन्न संकट के लिए अपने को तैयार करते हुए मैंने जवाब दिया - “उनकी तनख़्वाह निश्चित रूप से मुझसे ज़्यादा है। तभी तो उन्होंने मोटर भी रख छोड़ी है!”

“तब, सुन लो!” - उनके इन तीन शब्दों ने मुझे आगाह कर दिया कि मेघों का उमड़ना-घुमड़ना समाप्त हो गया है - अब केवल बिजलियाँ चमकेंगी और उसके बाद इतनी ज़ोर से पानी बरसेगा कि मैं डूबने-उतराने लगूँगा। वही हुआ भी। उन्होंने अपना भाषण आरम्भ किया - “आज फिर वे सब्ज़ी-मंडी गये थे। वहाँ से ढेरों सब्ज़ियाँ ख़रीद लाये हैं। कौड़ी के मोल! समझे? कौड़ी के मोल! तुमसे कहो, तो बोलोगे - ’वह कोई भले आदमियों के जाने की जगह है? कोई देखे या सुनेगा, तो क्या कहेगा?’ अब बोलो, तुम क्या कहोगे? शर्माजी भले आदमी नहीं हैं?”

सच कहता हूँ, बड़ी खीझ हुई शर्माजी पर! मन में आया, जाकर पूछूँ कि दो पैसे की बचत के लिए वे क्यों मंडी दौड़ जाते हैं; और ख़ुद दौड़ें, तो दौड़ें, मुझ पर रोड-रॉलर क्यों दौड़वा देते हैं! लेकिन अभी यह सब पूछने का अवसर कहाँ था - अभी तो मुझे श्रीमतीजी को अपनी बात समझानी थी! अतः धीमे-से बोला - “अरे भाई, तुम बेकार सब्ज़ी-मंडी के लिए परेशान होती हो। वहाँ भी सब्ज़ियाँ कोई फेंकी थोड़े-ही चलती हैं। मन-दो-मन ख़रीदो, तो दो-तीन रुपये की बचत होती है। अब तुम्हीं सोचो न, अपने यहाँ प्राणी

ही कितने हैं - सब मिला कर तीन। तीन आदमियों पर हफ़्ते-भर में कितनी सब्ज़ी लगेगी? बहुत, तो आधा मन! और, आधा मन पर दस-बारह आने से ज़्यादा की बचत क्या होगी! फिर, यहाँ से मंडी जाने का बस-भाड़ा क़रीब ढाई आने रख लो और उधर से अपने सिर पर तो लाऊँगा नहीं, कुली ही लाएगा - वह दस-बारह आने से कम नहीं लेगा। ऊपर से दो-तीन घंटे का समय बर्बाद होगा, वह अलग! तब बतलाओ, क्या फ़ायदा है मंडी जाने का?"

लेकिन साहब, जिस तरह आँधी आने पर सड़कें अपने-आप साफ़ हो जाती हैं, उसी तरह श्रीमतीजी के आवेशपूर्ण शब्दों ने बात-की-बात में मेरे सारे शब्दों को उड़ा कर एक ओर कर दिया। वे बोलीं - "अब मुझे समझाने की ज़रूरत नहीं है, श्रीमानजी! अपने पाठकों के लिए ही रख छोड़िए ये चिकनी-चुपड़ी बातें। भला बताओ तो, आज आलू क्या भाव लाये थे?"

"चार आने सेर!" - मैंने भाव एक आना कम करके बतलाया।

"वे लाये बारह आने के पाँच सेर!" - और, श्रीमतीजी ने इस तरह मेरी ओर देखा, जिस तरह अदालत में सबूत-पक्ष का वकील कठघरे में खड़े अभियुक्त को देखता है।

"फूलगोभी क्या भाव मिली थी?" - उन्होंने दूसरा सवाल पूछा।

मैंने कहा - “तीन आने सेर!” इस बार भी मैंने भाव में एक आने की कमी की।

“और वे कैसे लाये, मालूम है? छः आने के पाँच सेर!” - श्रीमतीजी बोल कर मुस्कुरायीं।

“ऐं!” - मैं परेशान हो उठा - “असम्भव! इतना अन्तर हो ही नहीं सकता!”

“फिर, लगा लो शर्त! अभी-अभी मिसेज़ शर्मा गयी हैं। उन्होंने ही बतलाया मुझे। उनसे पुछवा देती हूँ।” - श्रीमतीजी की ’करो या मरो’ की इस भावना ने सचमुच मेरी बोलती बन्द कर दी।

एक क्षण वे चुप रहीं, फिर बोलीं - “इसीलिए तो कहती हूँ कि मंडी में कौड़ी के मोल सब्ज़ियाँ मिलती हैं। अब टमाटर को ही ले लो। यहाँ क्या भाव है?”

मैंने दीन वाणी में कहा - “पाँच आने सेर!” यह भाव मैंने ठीक बतलाया।

“वे लाये हैं बारह आने के पाँच सेर! मटर भी उन्हें इसी भाव मिला। तुम्हें किस भाव मिला था?” - अब तक श्रीमतीजी के चेहरे पर विजयी का दर्प आ चुका था।

मैं तो हारा हुआ था ही, अपनी खीझ स्थानीय सब्ज़ीवालों पर उतारी - “साले गला काटते हैं। मटर भी पाँच आने सेर ही दिया!”

“और सबसे सस्ती तो बंदगोभी है! जानते हो, क्या भाव मिली उन्हें?”

मैंने भोले-भाले बालक की तरह पूछा - “क्या भाव मिली?”

“चार आने के पाँच सेर!”

मैं तो आसमान से धरती पर आ गिरा। चार आने सेर मैंने ख़रीदी थी। इन नेत्र-विस्फारक उद्घाटनों के कारण अब तक मेरी भी उत्सुकता कुछ जाग चुकी थी, सो पूछा - “पालक-मूली भी लाये हैं क्या वे?”

“हाँ!” - श्रीमतीजी ने उत्तर दिया - “पालक तीन आने का पाँच सेर और मूली ढाई आने में पाँच सेर!”

अब मुझे पूरा यक़ीन हो गया कि सतयुग और कलियुग में केवल कुछ मीलों का अन्तर है। मंडी में सतयुग के लोग बसते हैं और यहाँ कलियुग के। कम-से-कम ये सब्ज़ीवाले तो कलियुग के ही हैं, नहीं तो इस तरह बेईमानी कैसे करते! ये लोग पालक तीन आने सेर बेच रहे थे और मूली दो आने सेर! इतनी मुनाफ़ाख़ोरी! मैं दंग रह गया!

लेकिन केवल दंग रहने से काम थोड़े ही चलता। अब तो सब्ज़ी-मंडी भी जाना ही था। सो, मैंने श्रीमतीजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि अगले रविवार के प्रातःकाल मंडी जाऊँगा।

अब प्रायः नित्य ही श्रीमतीजी से इस बारे में मेरी चर्चा होने लगी कि कौन-कौन सी सब्ज़ी कितनी-कितनी लाऊँगा। रोज़ एक-दो नयी सब्ज़ियों के नाम लिस्ट में दर्ज होने लगे। परन्तु शनिवार के दिन अपना भार थोड़ा कम कराने में मुझे सफलता मिल गयी। इस तर्क के आधार पर, कि अधिक सब्ज़ियाँ होने पर दो कुली करने पड़ेंगे और फिर उन सबका घर में इस्तेमाल भी नहीं हो सकेगा, बहुत-सी सब्ज़ियों के नाम लिस्ट से उतर गये - केवल आठ सब्ज़ियाँ बच रहीं। लेकिन साथ-ही, यह शर्त भी लगा दी गयी कि हर रविवार को मंडी जाकर मैं सब्ज़ियाँ ले आया करूँगा। मैंने एतराज़ भी किया कि एक मन सब्ज़ी का एक हफ़्ते में इस्तेमाल कैसे हो सकेगा, पर श्रीमतीजी ने ये कह कर मेरा मुँह बन्द कर दिया कि इसकी ज़िम्मेदारी उन पर है - मैं देखता ही रह जाऊँगा कि एक हफ़्ते के अन्दर वे किस तरह एक मन सब्ज़ी को पार लगा देंगी।

शनिवार की शाम को श्रीमतीजी ने मुझे इस बात से सावधान कर दिया कि इधर सब्ज़ियों के भाव और गिरे हैं, इसलिए मंडी में भाव और भी कम हो गये होंगे। इसके साथ ही, कल सवेरे का कार्यक्रम भी बन गया। कार्यक्रम इस प्रकार था - और दिनों की तरह आठ बजे की बजाय मैं सात बजे ही सोकर उठ जाऊँगा। अगर नहीं उठूँ, तो वे दूध की ठंडी बोतल मेरे चेहरे से सटा देंगी और मुझे इसका बुरा नहीं मानना होगा। फिर, हाथ-मुँह धोकर मुझे

ख़ाली चाय पीनी पड़ेगी - नाश्ते के लिए नहीं रुकना होगा। चाय पीते समय भी मुझे अख़बार पढ़ने को नहीं मिलेगा - उसे वे छुपा देंगी, क्योंकि अख़बार देख कर मेरी नीयत डोल सकती है। चाय पीने के बाद एक मिनट की भी देर किये बिना मुझे कपड़े पहनने पड़ेंगे और बच्चों के जागने से पहले ही मुझे अलख जगाने के लिए सड़क पर निकल जाना होगा, अन्यथा मेरा बचपना मुझे कुछ समय बच्चों के साथ बिताने के लिए मजबूर कर देगा। मतलब यह, कि साढ़े सात बजे मुझे उस बस के ऊपर होना होगा, जो सड़क के ऊपर होगी।

ऐसा ही हुआ भी। दूध की ठंडी बोतल का शीतल स्पर्श न मिले, इस भय से मैं छः बजे ही उठ गया और घड़ी की ओर ताकते-ताकते एक घंटा गुज़ारा। सात बजे मैं बिस्तर से उठा, तो ऐसा लगा, जैसे 'मोनो' की कास्टिंग-मशीन में फ़िट कर दिया गया होऊँ - "खट्-खट्-खट्-खट्, खट्-खट्-खट्-खट्" सारा शरीर काँप रहा था। उसी हालत में मुँह-हाथ धोया, चाय पी और लड़खड़ाते क़दमों से सड़क पर आ खड़ा हुआ। खड़े-खड़े पन्द्रह मिनट बीत गये, पर कोई बस न आयी। कहने की आवश्यकता नहीं कि चुपचाप खड़े रहने से, चलने-फिरने की अपेक्षा, अधिक ठंड लगती है; अतः निश्चय किया कि पैदल ही चल पड़ूँ - ठंड से भी बचूँगा और ढाई आने पैसे भी बचेंगे।

तो, उन दिनों, जब कि शिमला में बर्फ गिरने का रिकॉर्ड टूट रहा था और उस रिकॉर्ड के टुकड़े बुरी तरह दिल्ली में गिर रहे थे, मैंने ढाई मील का सफर 'लेफ़्ट-राइट' करके तय किया। उसी दिन मुझे इस बात का भी भरोसा हो गया कि यदि मैं चाहूँ, तो फ़ौज में ख़प सकता हूँ।

ख़ैर साहब, सब्ज़ी-मंडी के निकट पहुँच गया। अब मुश्क़िल से आधा मील और चलना था। तभी रास्ते में सब्ज़ियों की कुछ दुकानें मिलीं। मैं जानता था कि इन दुकानों में भी सब्ज़ियों के दाम वही होते हैं, जो मेरे घर के पास की दुकानों में। सोचा, ज़रा कलियुग के भाव की भी जानकारी ले ही लूँ। अतः एक दुकान में भाव पूछे, तो ये जवाब मिले - आलू तीन आने सेर, फूलगोभी ढाई आने सेर, टमाटर तीन आने सेर, मटर तीन आने सेर, बंदगोभी दो आने सेर, बैंगन चार आने सेर, मूली डेढ़ आने सेर और पालक दो आने सेर! यही आठ सब्ज़ियाँ मुझे ख़रीदनी थीं। इनके इतने सस्ते भाव कलियुग की दुकानों में सुनने को मिले, तो श्रीमतीजी की इस बात पर पूरा विश्वास हो गया कि सब्ज़ियों के भाव गिर गये हैं और अब मंडी में एक मन सब्ज़ी शायद एक-डेढ़ रुपये में ही मिल जाएगी।

ख़ुशी में शायद पैर भी फूल उठते हैं, जल्दी आगे बढ़ते ही नहीं। कम-से-कम मैंने ऐसा ही अनुभव किया। मैं चाह रहा था कि

जल्दी-से-जल्दी मंडी पहुँच जाऊँ और पैर, लगता था, आगे बढ़ने की बजाय पीछे जा रहे थे। आख़िर, किसी तरह प्रतीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हुईं और मैं अपने जीवन में पहली बार सतयुग के बाज़ार में दाख़िल हुआ। सबसे पहले फलों की दुकानें मिलीं। ढेर-के-ढेर फल, सुन्दर-सुन्दर! लेकिन रास्ते की बात मत पूछिए। पत्तों और टूटी टोकरियों के ढेर, जिन पर पानी बरसने के बाद लोगों ने जी-भर धान के खेत की तरह कादो किया था। अतः बहुत सम्भल-सम्भल कर पैर बढ़ाने लगा। रास्ते में सड़े फलों की भी वर्षा हुई थी, सो थोड़ी दुर्गन्ध भी स्वाभाविक ही थी। अतएव नाक पर रुमाल रख लिया और अपनी दृष्टि दुकानों से हटा कर रास्ते पर जमा दी। लेकिन कई चक्कर मारने के बाद भी जब सब्ज़ी की कोई दुकान न मिली, तो मैं परेशान हो उठा। मन में आया कि कहीं रविवार के दिन केवल फल ही तो नहीं बिकते; लेकिन तभी शर्माजी की याद आ गयी - वह भी तो रविवार को ही आये थे। आख़िर, एक फलवाले से पूछा - "क्यों भाई, आज सब्ज़ियों की दुकानें नहीं हैं!" उसने एक बार मुझे ऊपर से नीचे तक देखा, फिर कहा - "आज ही क्यों, यहाँ सब्ज़ियों की दुकानें कभी नहीं रहतीं।" मैं परेशान! थोड़ा अटक कर बोला - "मैं समझा नहीं! यह सब्ज़ी-मंडी ही तो है?"

"जी हाँ, है तो सब्ज़ी-मंडी ही, पर यहाँ केवल फल बिकते हैं। कहिए, तो ये नारंगियाँ दूँ! बहुत अच्छी हैं और सस्ती भी इतनी

कि ... ” मैंने बीच में ही उसे रोका - “नहीं-नहीं, भाई साहब, मुझे फल नहीं, सब्ज़ियाँ चाहिएँ।”

शायद फलवाले को मेरी हालत पर दया आ गयी। उसने कहा - “तो आप अगली बिल्डिंग में जाइए। यह फल बाज़ार है और वह सब्ज़ी बाज़ार!”

’प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः’। शगुन अच्छा नहीं हुआ। लेकिन शगुन विचारने का अभी अवसर कहाँ था। जल्दी-जल्दी, प्रेमिका की गली में तमाचे खाये हुए प्रेमी की तरह, वहाँ से बाहर निकला और चन्द क़दम आगे चल कर दूसरी बिल्डिंग में दाख़िल हुआ। इस बिल्डिंग में - नहीं, मैं बिल्डिंग बेकार कहे जा रहा हूँ - विशाल गोल अहाते में भीड़ काफ़ी थी, यह मैंने दरवाज़े पर से ही देख लिया। दरअसल, दूरदर्शी मैं शुरू से रहा हूँ। मेरी श्रीमतीजी भी मेरी इस दूरदर्शिता का लोहा मानती हैं, हालाँकि यह शिकायत उनकी बराबर रही है कि निकट की चीज़ मुझे नहीं सूझती और अपने इस कथन का प्रमाण भी वे बड़ा ज़ोरदार उपस्थित करती हैं। जानते हैं, वह प्रमाण क्या है? मेरा चश्मा, जिसका नम्बर ’प्लस’ कुछ है - क्या है, सो नहीं बताऊँगा। ख़ैर साहब, सिकन्दर की तरह मैं उस अहाते में दाख़िल हुआ। यहाँ भी रास्ते की लगभग वही दशा थी, जो मैंने फल-बाज़ार में देखी थी। फ़र्क सिर्फ़ इतना था कि सड़े फलों का स्थान सड़ी सब्ज़ियों और गोभी तथा साग के पत्तों ने ले

लिया था। लेकिन इस प्रसंग को छोड़िए, क्योंकि यह बात शायद वहाँ की विशेषताओं में से एक थी - तभी तो, वहाँ उपस्थित किसी भी व्यक्ति को इसकी परवाह न थी कि वह डनलपिलो के गद्दे पर चल रहा है, या सड़े पत्तों के फच्-फच् कर रहे कीचड़ पर।

हाँ, तो पहले आलू की कुछ दुकानें मिलीं। कुछ ग्राहक भी खड़े थे दुकानों पर। उन ग्राहकों के सवालों और उन्हें मिलनेवाले जवाबों पर ग़ौर किया, तो पता चला, भाव एक रुपये में पाँच सेर का था। सुनते ही, विश्वमित्र, त्रिशंकु और कर्मनाशा, तीनों याद आ गये। बाहर पन्द्रह आने में पाँच सेर और मंडी में एक रुपये में पाँच सेर! वाह रे, भगवान्! ठीक ही कहा है किसी ने कि जहाँ भी जाओ, क़िस्मत साथ जाती है। एक दुकानदार से इस सम्बन्ध में पूछा भी। वह बोला - “जनाब, यह आलू बाहर पाँच आने सेर से कम नहीं मिलेगा। आलू भी तो तरह-तरह के होते हैं।” यों, बात मेरी समझ में नहीं आयी, पर मैंने दर्शाया यही कि सारा रहस्य बख़ूबी मेरी समझ में आ गया। इसी तरह, दस-पन्द्रह दुकानों का चक्कर लगाने के बाद एक दुकान पर गया, तो उसने चौदह आने के पाँच सेर का भाव बतलाया। मेरी जान-में-जान आयी। पाँच सेर पर कम-से-कम एक आने की तो बचत हुई। झट से एक झल्लीवाले को बुलाया। उसने मेरे घर तक सामान पहुँचाने के बारह आने पैसे बतलाये। मैंने कहा - “ठीक है!” और दुकानदार से पन्द्रह सेर आलू तौलवा लिया।

अब आगे-आगे मैं बढ़ा और पीछे-पीछे झल्लीवाला। फूलगोभी की दुकानें आ गयी थीं। भाव बतलाया गया, दस आने के पाँच सेर। कुछ मोल-भाव करना चाहा, तो दुकानदार ने पूछा - "कितनी गोभी लेनी है?" मैंने बतलाया - "पाँच सेर!" इस पर उसने ऐसी मुख-मुद्रा बनायी, जैसे मैंने एक नये पैसे की गोभी माँगी हो; बोला - "एक भी नया पैसा कम न होगा।" क्या करता, पाँच सेर गोभी ली - ढाई आने की बचत हुई! अब बंदगोभी की दुकानें देखीं। सर्वत्र आठ आने के पाँच सेर का भाव था। पाँच सेर वह भी ली - दो आने की बचत हुई। फिर मटर ख़रीदा, तेरह आने के पाँच सेर - यहाँ भी दो आने की बचत। अब टमाटर की एक दुकान पर गया। दुकानदार ने चौदह आने के पाँच सेर का भाव बतलाया। मैंने कहा - "बाज़ार में तीन आने सेर मिल जाता है, फिर यहाँ ख़रीदने से फ़ायदा?" अभी दुकानदार ने जवाब भी नहीं दिया था कि पीछे से एक धक्का लगा और मैं उसके टमाटर के ढेर पर भहरा पड़ा। दुकानदार 'हाँ-हाँ' करने लगा। पर जो होना था, वह तो हो चुका था। लजायी बिल्ली की तरह उठ कर पीछे देखा - पीठ पर सब्ज़ियों की कम-से-कम ढाई मन भारी बोरी लादे वह मज़दूर थोड़ा आगे बढ़ गया था। वह इस तरह निश्शंक भाव से बढ़ा जा रहा था, जैसे कुछ हुआ ही न हो। "बदतमीज़!" - मेरे मुँह से इतना ही निकला और दृष्टि हाथों तथा कोट पर लगी टमाटर की चटनी पर चली गयी।

विश्वास मानिए, अपने नये धुले कोट की हालत पर मुझे रोना आ गया और जब रोना आए, तो रुमाल निकालना ही पड़ता है। रुमाल निकाल कर हाथ पोंछने के बाद अभी कोट पोंछ ही रहा था कि दुकानदार बोला - "आपको कितना टमाटर लेना है?" मैंने कहा - "ढाई सेर!" उसने तराज़ू सम्भाला, और उस पर टमाटर चढ़ाता हुआ बोला - "ये सारे पिचे हुए टमाटर आपको लेने होंगे।" मैं भला क्या जवाब देता! चुपचाप स्वीकार कर लिया। ढाई सेर पर दो पैसे की बचत और टमाटर मिले पिचे हुए।

ख़ैर जनाब! क़िस्मत की बात! आगे बढ़ा। बैंगन ख़रीदने लगा। दुकानदार ने भाव बतलाया - एक रुपये के पाँच सेर! मैंने पूछा - "कम नहीं होगा?" उसने पूछा - "कितना लेना है!" मैंने बतलाया - ढाई सेर!" सुनते ही वह गर्दन टेंढी करके तेज़ आवाज में बोला - "बाबूजी, हथकड़ी किसी और को पहनाओ! मुझे नहीं बेचना ढाई सेर!" मैं हतप्रभ! ऐसा लगा, जैसे किसी राह चलती लड़की को छेड़ दिया हो और उसने शोर मचा कर भीड़ जमा कर दी हो। चुपचाप वहाँ से हट गया और एक दूसरे दुकानदार से, जिसे हथकड़ी का डर नहीं था, उसी भाव में ढाई सेर बैंगन ख़रीदा। हिसाब लगाया, तो दो आने का लाभ दिखाई पड़ा। फिर, पालक और मूली भी ढाई-ढाई सेर ख़रीदी - छः आने में पाँच सेर के भाव से। इन दोनों को मिला कर क़रीब तीन आने का लाभ हुआ।

सारी सब्ज़ियाँ ख़रीदी जा चुकी थीं - पूरे एक मन! अब सीधे घर की राह ली। झल्लीवाला पीछे-पीछे चलने लगा। रास्ते में मैंने हिसाब लगाया - कुल मिला कर पन्द्रह आने की बचत हुई थी, जिसमें से बारह आने झल्लीवाले को देने थे। सोचा, अच्छा हुआ कि पैदल आया, बस नहीं पकड़ी, नहीं तो रहे-सहे तीन आने में से भी ढाई आने चले जाते।

लेकिन ज्यों-ज्यों मैं सारी परिस्थिति पर विचार कर रहा था, त्यों-त्यों शर्माजी पर खीझ बढ़ती जा रही थी। मैं सोच रहा था - "पता नहीं, किस सब्ज़ी-मंडी से, किस तरह वे सब्ज़ियाँ लाते हैं। भला बतलाइए, सवेरे छः बजे से दिन के दस बजे तक दो पैसे की बचत के लिए कौन मरना पसन्द करेगा - वह भी आजकल, जब शिमला उत्तरी ध्रुव बन रहा है और दिल्ली शिमला! फिर, दो पैसे की बचत भी कल्पना-मात्र ही है, क्योंकि जहाँ सामान्यतः पन्द्रह सेर सब्ज़ी में पूरे हफ़्ते का काम चलता, वहाँ अब एक मन सब्ज़ियाँ समाप्त की जाएँगी और उन्हें सिर्फ़ अकेले नहीं समाप्त किया जाएगा - उनके साथ ढेर सारे तेल, नमक और मसाले को भी सूली पर चढ़ने के लिए विवश किया जाएगा। दरअसल, यह कम-से-कम पाँच-छः रुपये सप्ताह घाटे का सवाल है।"

इन्हीं सब बातों पर विचार करता सिर झुकाये चला जा रहा था। चिन्तन में वस्तुतः यह एक बहुत बड़ा गुण है कि वह समय की

दूरी घटा देता है। मेरी तन्द्रा तब भंग हुई, जब घर केवल एक फ़र्लांग दूर रह गया। और, जब तन्द्रा भंग हुई, तब मेरा पीछे मुड़ कर देखना भी स्वाभाविक ही था। पर यह क्या! सब्ज़ियाँ केवल मेरे दिमाग़ में थीं - झल्लीवाला तो न-जाने कब-कहाँ से साथ छोड़ चुका था।

अब यह दूसरी चिन्ता सिर पर सवार हुई - श्रीमतीजी को क्या मुँह दिखाऊँगा? झल्लीवाले के गुम होने की बात कहता, तो लगभग वही दशा की जाती, जो यह कहने पर कि रुपये गुम हो गये। आख़िर, बहुत माथा मारने पर एक उपाय सूझा और उसे ही मैंने कार्यान्वित भी किया। घर पहुँच कर मैं गुमसुम एक ओर बैठ गया। श्रीमतीजी को यह बात, स्वभावतः ही, कुछ अजीब-सी लगी। उन्होंने पास आकर पूछा - “क्या बात है? सब्ज़ियाँ कहाँ हैं?”

मैंने धीमे से कहा - “सब्ज़ी-मंडी नहीं जा सका। राजीव को ज़रूरत थी, उसी को रुपये उधार दे दिये।”

“हाँ, यह तो होना ही था! मैं जानती थी कि ऐसी ही कोई आफ़त टूटेगी! ... आख़िर, क्या तुम्हारे सभी दोस्त ऐसे ही कंगले हैं? सवेरे-सवेरे हाथ में ढकना लेकर भीख माँगने निकल पड़ते हैं? यह राजीव कौन है?” - श्रीमतीजी का क्रोध अपने परम पर था।

मैंने कहा - “तुम नहीं जानतीं उसे! बहुत भला आदमी है। उसकी बीवी की तबीयत ख़राब है, इसीलिए परेशानी में था!”

“अरे, यह सब बहाना है। कोई बीमार-वीमार नहीं होता। ये

सब रुपये ठगने के हथकंडे हैं!" - श्रीमतीजी ने अपनी निश्चित राय व्यक्त की।

मैंने भी अपनी आवाज़ में थोड़ा आक्रोश भरा और कहा - "देखोजी, मेरे दोस्तों को बुरा-भला कहने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। मैं ख़ुद उसकी बीवी को देख आया हूँ। वह सचमुच बीमार है। तुम्हें रुपये वापस मिल जाएँगे, बस!"

श्रीमतीजी को शायद याद आ गयी यह बात कि अपने मित्रों के विरुद्ध मैं कुछ भी नहीं सुनना चाहता। अतः वे पैर पटकती वहाँ से चली गयीं।

मैं भी कुछ देर बाद, भोजन करने के उपरान्त, घर से निकल गया। पर यह चिन्ता बराबर सिर पर सवार रही कि रुपये कहाँ से आएँगे? मेरा झल्लीवाला मित्र 'राजीव' मुझे रुपये कैसे वापस करेगा - कब करेगा? आख़िर, एक उपाय सूझा - कोई सम्पादक बन्धु ही 'राजीव' का स्थान ले सकते हैं! अतः एक मित्र के घर बैठ कर मैंने यह वृत्तान्त तैयार किया। अब मुझे पूरा विश्वास है कि राजीव की लाज रह जाएगी।

लेकिन यदि यह वृत्तान्त श्रीमतीजी ने पढ़ लिया, तो? तो ... तो ... तो क्या होगा? यही न, कि आगे फिर कभी सब्ज़ी-मंडी जाने के लिए नहीं कहेंगी? और क्या? सब्ज़ी सस्ती मिलती है! हुश! बेकार बात! बिल्कुल बेकार बात! सब्ज़ी-मंडी में सब्ज़ी बहुत

मँहगी है!

सुखतारा

15 अगस्त - राष्ट्रीय त्योहार! रामपुर के बाहर मैदान में बहुत-से लोग एकत्र हैं। तरह-तरह के चेहरे, तरह-तरह के कपड़े, तरह-तरह की बातें। खेतों की मेड़ों पर भी रंग-बिरंगे वस्त्र पहने लोगों की कतारें। किन्तु विविधताओं के बीच भी एकरसता - एकरसता भावना की, उल्लास की।

राज्य के एक मन्त्री महोदय इस मैदान में राष्ट्रीय झण्डा फहराएँगे, भाषण करेंगे। सब प्रतीक्षा में हैं मन्त्री महोदय की। आठ बज रहे हैं। अब तक तो उन्हें आ जाना चाहिए था। कितनी आकुलता, कितनी उत्सुकता!

कच्ची सड़क पर धूल का अम्बार उठा - मन्त्री महोदय आ रहे हैं। लोगों की दृष्टि स्वयं चली गयी उस ओर। धूल का नज़ारा पास आता जा रहा है ... और निकट, और निकट ... और एक हिचकोला खाकर शानदार कार रुक गयी। मन्त्री महोदय को मालाएँ पहनायी गयीं और उन्होंने झुक कर, किंचित् मुस्कुरा कर, अपनी अभ्यर्थना जतायी। ... अब वे बढ़ रहे हैं झण्डे की ओर। ... उन्होंने डोरी खींची और रेशमी तिरंगा लहरा उठा - भारतीय शहीदों की

विजय पताका फहरा उठी, मुस्कुरा उठी।

’जन-गण-मन’ गान हुआ और इसके बाद मन्त्रीजी ने भाषण आरम्भ किया। स्वतन्त्रता-आन्दोलन, स्वराज्य-प्राप्ति और अब तक देश-द्वारा प्राप्त की गयी सफलताओं पर प्रकाश डालने के बाद उन्होंने कहा - “अभी हमें सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है - आर्थिक स्वतन्त्रता हासिल करनी है। राष्ट्र का नये सिरे से निर्माण करना है। ऊँच-नीच, ग़रीब-अमीर के भेद को मिटाना है। ... यह सब कुछ हमें स्वयं करना है। कठिन परिश्रम करके ही हम अपने राम-राज्य के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। ... आज प्रत्येक भारतवासी को यह शपथ लेनी चाहिए कि वह देश के नव-निर्माण के लिए अपनी पूरी शक्ति के साथ लग जाएगा। यह हमारी आज़ादी की माँग है - उस आज़ादी की माँग है, जिसके लिए हमारे हज़ारों भाइयों ने अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। ... “

और, सुखतारा का मस्तिष्क झनझना उठा। शहीद ... शहीद ...। सन् ’42 के उन भयंकर दिनों को कभी भुला सकेगी सुखतारा?

मन्त्री महोदय का भाषण समाप्त हुआ और सब लोग तिरंगे को अकेला लहराता छोड़ चल पड़े। सुखतारा उठी, झण्डे के नीचे गयी और सिर झुकाये, हाथ जोड़े, कुछ देर खड़ी रही। फिर, उसने झण्डे के बल्ले को छूकर कहा - “मैं तुम्हारी अन्तिम माँग भी

पूरी करूँगी। तुम्हारी माँग बेकार नहीं जाएगी। यह तुम्हारी माँग है - मेरे प्यारे 'सल्लू' के प्यारे तिरंगे की माँग है - जन्नत में बैठे मेरे शौहर के प्यारे तिरंगे की माँग है!"

और फिर, धीरे-धीरे क़दम उठाती, सुखतारा अपने घर लौट गयी।

... ...

सुखतारा बहू है इस गाँव की। इकतालीस वर्ष पूर्व वह पालकी में बैठ कर यहाँ आयी थी। उसके पति रमज़ान मियाँ बड़े हँसमुख, उदार और सज्जन व्यक्ति थे। थे तो ग़रीब - काम करते थे जुलाहे का, पर उनकी भलमनसाहत ने उन्हें काफ़ी ऊँचा उठा दिया था। कोई उन्हें मात्र 'रमज़ान' कह कर नहीं पुकारता था - 'रमज़ान' के साथ 'चाचा', 'भैया', 'भाई', 'बेटा', आदि शब्द अवश्य ही जुड़े होते थे। बच्चों से तो उन्हें बहुत ही प्रेम था, इसीलिए बच्चे भी उन्हें सदा घेरे रहते थे। फलतः वे 'रमज़ान चाचा' के ही नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। वे थोड़ा पढ़े-लिखे भी थे - उर्दू में तुकबन्दी करने का उन्हें विशेष शौक़ था। उर्दू के एक दैनिक अख़बार के वे ग्राहक भी थे और रोज़ शाम को अपने बरामदे पर बैठ कर, उसे ज़ोर-ज़ोर से पढ़ कर लोगों को सुनाते थे।

सुखतारा का नाम तो था 'हमीदा', पर रमज़ान चाचा

'सुखतारा' के नाम से पुकारते थे। फलतः हमीदा, हमीदा न रह कर सुखतारा बन गयी। जैसे सरल रमज़ान चाचा, वैसी ही सरल और निष्कपट सुखतारा। गाँव की बहू-बेटियों के सामने प्रायः सुखतारा का दृष्टान्त उपस्थित किया जाता। कहते हैं, जहाँ चार थालियाँ होती हैं, वहाँ कभी-न-कभी टक्कर की झनकार निकल ही पड़ती है, पर सुखतारा इसका अपवाद थी।

शादी के छः साल बाद सुखतारा ने अपने पहले और अन्तिम बच्चे को जन्म दिया। नाम पड़ा सुलेमान। रमज़ान चाचा अख़बार के सम्पर्क में रहने के कारण बहुत-कुछ नये सन्सार की आवश्यकताओं से परिचित थे। अतः सुलेमान ज्यों ही पाँच साल का हुआ, उन्होंने उसे स्कूल में भर्ती करा दिया। मिडल पास करने के बाद सुलेमान, आगे पढ़ने के लिए, पास के एक शहर में भेजा गया और एक दिन उसने मैट्रिक भी कर लिया। इसके बाद रमज़ान चाचा ने सुलेमान से पूछा - "अब क्या इरादा है, बेटे?"

सुलेमान ने सिर झुका कर जवाब दिया - "अब्बाजान, चाहता तो था कि आगे और पढ़ता। ... "

रमज़ान चाचा सोच में पड़ गये और पूरे दो दिनों तक सोचने के बाद बोले - "बेटे, मैंने बहुत सोचा, लेकिन कोई उपाय नहीं दीखता। उतना ख़र्च मैं कैसे जुटा सकूँगा? तुम तो जानते ही हो, अब तक आधा पेट खाकर ... "

सुलेमान बीच में ही बोल उठा - “अब्बाजान, मैं आप पर बोझ बन कर नहीं पढ़ूँगा। अपना ख़र्च निकाल लेने-भर मैंने पढ़ लिया है। ’ट्यूशन’ करके आगे पढ़ूँगा। आप कालेज में नाम लिखा देने-भर के लिए कुछ रुपये का इन्तज़ाम कर दें।”

रमज़ान चाचा को भला अब क्या एतराज़ हो सकता था? सुलेमान कलकत्ते चला गया और वहीं पढ़ने लगा। तेज़ ज़ेहन का लड़का - धड़ाधड़ परीक्षाएँ पास करता गया।

रमज़ान चाचा को अपने सुलेमान पर गर्व था। वे अक्सर सुखतारा से कहते - “ ... सुलेमान हमारी सब तक़लीफ़ें दूर कर देगा। वह बड़ा होनहार है।” और, सुखतारा आँखों में चमक लिये, गर्वोत्फुल्ल हृदय से, रस ले-लेकर, अपने पति की बातें सुनती।

सुलेमान बी. ए. फ़ाइनल में था, जब अगस्त - सन् 42 का ऐतिहासिक अगस्त - आया। देश-भर में हलचल मच गयी। कलकत्ता भी अछूता न रहा। सभी युवा हृदय क्रान्ति की आग को भड़काने के लिए मचल पड़े। फिर सुलेमान ही कैसे पीछे रहता? उसके जीवन में भी आँधी आयी और वह मतवाला बन गया। अंग्रेज़ी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए, वह भी कॉलेज के दूसरे लड़कों के साथ तरह-तरह की कार्रवाइयों में भाग लेने लगा और अन्त में एक दिन गोरों की गोली खाकर, हाथ में तिरंगा लिये, धराशायी हो गया। सुलेमान - रमज़ान चाचा और सुखतारा का

प्यारा सुलेमान - सो गया सदा के लिए।

फिर चार साल बाद ही आया, ख़ूनी 1946। भाई-भाई ख़ून के प्यासे हो गये। हिन्दुओं ने मुसलमानों का क़त्लेआम किया और मुसलमानों ने हिन्दुओं का। गिरोह बाँध-बाँध कर लोग एक गाँव से दूसरे गाँव में जाकर लूटपाट करने लगे - अपने ही भाइयों के ख़ून से हाथ धोने लगे। आदमी, आदमी न रह कर जानवर हो गया। कौन अच्छा, कौन बुरा - इसकी पहचान भूल गये लोग। रामपुर में एकमात्र मुसलमान थे, रमज़ान चाचा - अच्छे रमज़ान चाचा! यह आँधी चली, तो रामपुर के निवासी सशंक हो उठे। उन्होंने रमज़ान चाचा को भरोसा दिलाया कि उनका बाल भी बाँका न होगा। गाँववालों ने एकमत से आतताइयों का मुक़ाबला करने का निश्चय किया और अपने वचन को निभाया भी। रमज़ान चाचा की हत्या करने के लिए आये आततायी गाँववालों का कड़ा रुख़ देख कर वापस चले गये। उनके प्रलोभनों को रामपुर-निवासियों ने ठुकरा दिया। किन्तु एक दिन शाम को, रमज़ान चाचा को गाँव के बाहर अकेले में पाकर, किसी आततायी ने वार कर दिया और छुरे के छः प्रहारों ने उन्हें तड़प-तड़प कर शान्त हो जाने के लिए मजबूर कर दिया।

सुखतारा के दोनो सहारे टूट गये। सुखतारा का मधुमय जीवन विषाक्त हो गया। उसके परिवार का गुलज़ार चमन वीरान हो

गया। अपने बुरे दिन देखने के लिए वह ज़िन्दा बच गयी।

फिर कुछ ही दिनों बाद आया सन् 47 का 15 अगस्त और मरते हुए सुलेमान का तिरंगा सारे देश में लहरा उठा। सारे देश ने अमर शहीदों को याद किया और उनके प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। सुखतारा को लगा, सारा देश उसके समक्ष नतमस्तक खड़ा है - उसके सुलेमान ने मर कर भी उसे कितना ऊँचा उठा दिया! वह गद्गद् हो गयी।

वह आठ कोस पैदल चल कर उस दिन शहर पहुँची थी। वहाँ उसने राज्य के मुख्य मन्त्री के मुख से सुना था - "यह आज़ादी उन शहीदों की देन है, उन जान पर खेलनेवालों की देन है, जिन्होंने अपना सर्वस्व वार कर हमें यह शुभ दिन देखने का अवसर दिया। ... हमें आज से यह अनुभव करना चाहिए कि, सारा भारत राष्ट्र अपना है, यहाँ का हर निवासी हमारा सम्बन्धी है - रिश्तेदार है। हमें अपना संकुचित दृष्टिकोण त्याग कर व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।" और, सुखतारा ने अनुभव किया था कि उसके एक सुलेमान की जगह, हज़ारों-लाखों सुलेमान उसके सामने खड़े हैं - सब अपने हैं, कोई पराया नहीं।

फिर एक दिन आज़ाद देश की आज़ाद सरकार ने घोषणा की कि जिन लोगों को आज़ादी की लड़ाई में जान-माल की हानि उठानी पड़ी थी, उन्हें सहायता दी जाएगी। लोगों ने सुखतारा से भी

दरख़ास्त देने को कहा, पर सुखतारा के जवाब ने सबको सन्नाटे में ला दिया। उसने कहा - "मेरा सुलेमान फ़ख़्र की मौत मरा है। मैं उसके बदले में रुपये लेकर उसकी शानदार मौत को नीचा दिखाऊँ? यह मुझसे न होगा। वतनपरस्ती की सौदाई भले लोग नहीं करते। मेरा करघा आबाद रहे, बस! मैं मेहनत-मज़दूरी करके अपने दिन गुज़ार लूँगी, लेकिन अपनी वतनपरस्ती की शान में बट्टा नहीं लगने दूँगी।" और सचमुच, देश-भक्ति और त्याग की मिसाल सुखतारा, अपने कथन के अनुसार ही मेहनत-मज़दूरी करके जीवन-यापन करती रही। उसने कभी किसी के सामने अपना सिर झुकने नहीं दिया।

... ...

"सन्त विनोबा, ग़रीबों के मसीहा, ग़रीबी और अमीरी का भेद मिटाने चल रहे हैं। वे बापू के सपने को पूरा करने चले हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद वे देश को आर्थिक स्वतन्त्रता देंगे! ... " जब सुखतारा ने सुना, तो वह मचल पड़ी उनके दर्शन को - यह जानने को कि वे कैसे क्या कर रहे हैं? और, एक दिन उसे ख़बर मिली कि सन्त उसके गाँव से दो मील दूर के एक गाँव में आ गये हैं। आज शाम को वहाँ उनका प्रवचन होगा और कल वे रामपुर आएँगे। दिन-भर सुखतारा उधेड़-बुन में पड़ी रही - "आज ही उनके दर्शन

करने जाऊँ या कल जब वे आएँगे, तब दर्शन करूँ?" अन्त में, उसने निश्चय किया - आज ही जाऊँगी। सन्त, जो ग़रीबों के हित के लिए दौड़ रहे हैं, मेरे पास आएँ, क्या तभी मुझे कुछ सोचना चाहिए? नहीं, यह कैसी बात?" और वह चल पड़ी उनके दर्शन को।

सन्ध्या हुई और विनोबाजी - क्षीणकाय वृद्ध विनोबा - अपना सन्देश सुनाने आये। उन्होंने सीधे-सादे शब्दों में अपनी बात सामने रख दी - "हमारे पास जो-कुछ है, वह ईश्वर की देन है। सभी चीज़ों पर उसी का अधिकार है, हमारा नहीं। इसलिए यदि हम अपनी ज़रूरत से ज़्यादा चीज़ें अपने पास रखते हैं, तो पाप करते हैं। हमारा धर्म है कि हम आपस में बाँट कर, ज़रूरत के अनुसार, सब चीज़ों का उपयोग करें। जिनके पास ज़रूरत से ज़्यादा चीज़ें हैं, उन्हें अपने दूसरे ज़रूरतमन्द भाइयों को दान कर देना चाहिए। लेकिन इसके लिए एक वातावरण तैयार करना पड़ेगा, और यह तभी सम्भव होगा, जब हर कोई त्याग करने के लिए तैयार हो जाए। इसीलिए मैं सबसे माँग करता हूँ कि आप अपनी भूमि और सम्पत्ति का कम-से-कम छठा हिस्सा दान कर दें। ग़रीबों और अमीरों, सबसे मेरा अनुरोध है कि वे यथासम्भव अधिक-से-अधिक सम्पत्ति का दान करें, ताकि ग़रीबी और अमीरी का भेद जल्दी-से-जल्दी समाप्त हो जाए। अगर आप इस बात को नहीं समझेंगे और समय की माँग को नहीं पहचानेंगे, तो दूसरे देशों की तरह यहाँ भी ख़ूनी क्रान्ति

होगी और ग़रीब लड़ कर अपना हक़ ले लेंगे। इसलिए बुद्धिमानी इसी में है कि हम बिना झगड़ा किये, शान्तिपूर्वक, अपने दूसरे भाइयों को उनका हिस्सा दे दें।”

प्रवचन समाप्त हुआ और लोगों में हलचल मच गयी। “तुम कितना दोगे?”, “मैं कितना दूँ?” की कानाफूसी होने लगी। फिर, कुछ क्षण उपरान्त एक बीघा, दो बीघा, दस बीघा, दान की घोषणा शुरू हुई। लोगों में होड़ मची थी। इस दान को उन्होंने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड बना लिया था। दस बीघा देनेवाला एक बीघा देनेवाले को और पच्चीस बीघा देनेवाला दस बीघा देनेवाले को तुच्छ दृष्टि से देख रहा था। तभी एक दुर्बल स्वर सुनाई पड़ा - “मैं अपना सब-कुछ दान करती हूँ। मेरे पास जो-कुछ है, वह सब राष्ट्र का - मेरा जीवन भी।”

इसके साथ ही एक क्षण की स्तब्धता छा गयी और सन्त ने अपनी दृष्टि उधर फेरी। तभी नाम दर्ज करनेवाले स्वयंसेवक ने पूछा - “आपका नाम क्या है, माताजी?”

“जी ... सुखतारा। मैं ... रामपुर में रहती हूँ। ... “ और सुखतारा ने लोगों के देखने से पहले ही अपने दो मोतियों को आँचल में छिपा लिया, दूसरों के लिए उनकी उपयोगिता भी क्या थी!

बिथा मैं कासे कहूँ

कितना वज्र सन्नाटा छाया है। लगता है, सृष्टि की धड़कन ही बन्द हो गयी है। प्रलय के बाद की-सी शान्ति के ही अनुरूप फैला है अन्धकार भी - मौत की चादर ने जैसे ढँक लिया है सबको। बिल्ली की चमकती आँखें भी शायद आज नहीं भेद सकेंगी तिमिरावरण को। पर न, कौन जाने, बिल्ली न हो उतनी असमर्थ - उसे सर्वत्र उजाला-ही-उजाला दिखे। सब सामर्थ्य का ही तो खेल है - अमावस्या सहज ही पूर्णिमा में बदल जाती है और पूर्णिमा अमावस्या में।

हाँ, बगल के कमरे में दिन का-सा प्रकाश है। समाये नहीं समा रहा है उजाला - किवाड़ों के जोड़ों से होकर फूट पड़ना चाहता है। सन्नाटा भी नहीं ही है - कुछ फुसफुसाहट-सी सुनाई दे रही है। कभी गिलास से बोतल टकराने की हल्की 'टन्' और कभी शीशे की चूड़ियों की मादक खनखनाहट भी। सौभाग्य वहाँ जागृत है।

देखूँ उठ कर? किवाड़ों के दग़ाबाज़ जोड़ों की लूँ मदद? चुरा लूँ प्रकाश? बटोर लूँ थोड़ी मुखरता? न ... मुझे सहन न होगा - प्रकाश से नहीं, अन्धकार से मेरा नाता है। दुर्भाग्य कैसे देख सकेगा सौभाग्य को? एक सिक्के के दो पहलू कभी देखते हैं एक-दूसरे

को? केवल अनुभव करते हैं एक-दूसरे के अस्तित्व को, ढोये फिरते हैं पीठ पर भार।

मैं दूसरा पहलू हूँ सिक्के का - राजचिह्न मेरी पीठ पर है। मेरा काम है राजचिह्न के आदेश का पालन करना, मुनादी करना - सौ पैसे, पचास पैसे, पच्चीस पैसे, दस पैसे, पाँच पैसे, तीन पैसे, दो पैसे, एक पैसा। पर एक पैसा भी मूल्य नहीं है मेरा - वहाँ भी राजचिह्न पीठ पर सवार है। बिना राजचिह्न के मुझे कोई स्वीकार न करेगा। पर यदि मैं न होऊँ, तो? राजचिह्न का मूल्य कौन समझेगा! ... पर यह तो विद्रोह का चिह्न है। और, असमर्थ विद्रोही बराबर ही कुचला जाता है!

तब? सोने की कोशिश करूँ। असमर्थ को जागना नहीं चाहिए। इसी में उसका कल्याण है। राजू मेरी बगल में बेख़बर सोया है - उसे क्या पता, मैं उसके पास हूँ या नहीं? रानी बगल के पलंग पर सोयी है - उसे क्या पता कि उसकी माँ उसके पास है या नहीं। किन्तु अभी अगर वह जाग जाए, तो?

तो वह चिल्लाएगी, शोर मचाएगी, विद्रोह करेगी। चार साल की अबोध बालिका है, तो क्या हुआ? जागरण उसमें विद्रोह लाएगा, और चूँकि वह अक्षम है, इसलिए पिट जाएगी, उसे फिर सुला दिया जाएगा! वह-तो-वह, दो साल के राजू का भी यही हाल होगा। इनका जागना न तो इरा को सहन होगा और न ठाकुर साहब

को। कोई भी समर्थ अपने आनन्द में खलल बर्दाश्त नहीं कर सकता।

पर नींद जो नहीं आती। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि अभी थोड़ी देर पहले बगल के कमरे का दरवाज़ा ख़ुला होगा, प्रकाश का एक थोका इस कमरे के अन्धकार को ढकेल कर बढ़ आया होगा, ठाकुर साहब ने इरा के वक्ष सहला कर अपने आने की सूचना दी होगी, जागी इरा फिर भी 'सोयी' ही रही होगी, और जब उन्होंने अपनी दोनों बाहों में उसे सोयी अवस्था में ही उठाया होगा, तब वह हौले-से उठ गयी होगी। इसके बाद का भी दृश्य मुझे स्पष्टतः दिखाई पड़ रहा है। प्रकाशमान कमरे में पहुँच कर बाँहों में लटके-लटके ही उसने ठाकुर साहब का मुँह चूम लिया होगा, फिर मुस्कुराते हुए अपनी आँखें ख़ोल दी होंगी। हर बार ऐसा ही होता है। मैं कई बार देख चुका हूँ। इस मदहोशी के आलम में कई बार तो वे दरवाज़ा उठगाना भी भूल जाते हैं। शायद ज़रूरत भी नहीं इसकी। डर किस बात का? फलतः, उस कमरे का प्रकाश, सौभाग्य, इस कमरे के अन्धकार, दुर्भाग्य, को चिढ़ाता रहता है।

उफ़्, रानी ने करवट बदली। कहीं जाग न जाय। अनर्थ हो जाएगा। बेचारी पिट जाएगी। मैं उसे अपनी गोद में सटा कर थपकियाँ दे दूँ? पर उठूँ कैसे? मैं तो 'सोया' हूँ। कैसी विवशता है।

ख़ैर, सो गयी बेचारी। भाग्य अच्छा है उसका।

भाग्य, भाग्य, भाग्य! उँह! कितनी बुरी चीज़ है यह भाग्य भी! सृष्टि का सबसे बड़ा तानाशाह! आदमी भागता फिरता है इसके पीछे हाथ जोड़ कर - कितना अपमान सहता है, कितनी लांछनाएँ बर्दाश्त करता है! मुझे अच्छी तरह याद है, उस रात मैं भी अपना भाग्य जगाने गया था। उससे पिछली ही रात मैंने पहली बार देखा था इरा का प्रेम, उत्तेजना जगाने का ठाकुर साहब का ढंग। मैंने भी आधी रात को चुपके-से उठ कर इरा के वक्ष सहलाये थे, फिर उसे बाँहों मे उठा कर अपने पलंग पर लाने की कोशिश की थी। सोचा था ... अब क्या बताऊँ, बहुत-कुछ सोचा था। पर उस दिन इरा जागी नहीं, सोयी थी, और ऊपर उठाते समय जब जागी थी, तब चण्डी-रूप में - मैंने उसका प्रेम नहीं, क्रोध पाया था और दोनों बच्चे जाग कर हक्के-बक्के-से मेरा चेहरा देखने लगे थे। कहाँ थी उसमें प्रेम की वह ऊष्मा, वासना की वह आग, जो मैंने पिछली रात देखी थी? वह तो बर्फ़ से भी अधिक ठंडी थी - वज्र कठोर! मेरी प्रज्वलित कामना उसे पिघला नहीं सकती थी। बस, कभी-कभी ही थोड़ा परिवर्तन परिलक्षित होता है उसमें - या तो तब, जब उसकी वासना का चक्र बड़ी तेज़ी से घूमने लगता है और उस ताप से बर्फ़ पिघलने लगती है; या फिर तब, जब उसे मेरी दशा पर तरस आता है। कोई सम्बन्ध न होने पर भी, साथी मुसाफ़िर पर रहम खा कर कभी-कभी लोग चलती गाड़ी में एक गिलास पानी नहीं दे देते हैं!

फिर, मैं तो उसका पति हूँ, उसके दोनों बच्चों का ’बाप’!

गिलास ठनकने के दो मिनट के अनन्तर ही होंठ चटखने की कितनी तेज़ आवाज़! उफ़्, बर्फ़ का पानी चट्टानों से टकराता हुआ तेज़ी से रास्ता बना रहा है नीचे उतरने का - मचल रहा है अतल गहराइयों में जल्दी-से-जल्दी पहुँचने को!

बर्फ़ कब पिघलती है, शिला कब पानी बनती है - यह केवल ठाकुर साहब जानते हैं, और उस रात बगल के कमरे का प्रकाश इस कमरे के अन्धकार में घुस आता है। या फिर ठाकुर साहब के स्पर्श से ही शिला पिघल उठती है। उनकी उँगलियों में हीरे की अँगूठियाँ हैं न! साथ ही, उनकी हथेलियाँ उस नायाब चीज़ की सुगन्ध भी छोड़ती रहती हैं, जो बड़े ’स्नेह’ से लाकर उन्होंने बगल के कमरे में रख दी होती है। हर चार-पाँच दिन पर ऐसा होता है, बर्फ़ में आग लगती है और इसकी सूचना इरा तथा ठाकुर साहब, दोनों को होती है। तभी तो, उस रात ’सोयी’ इरा जागती रहती है और प्रकाश के एक भभके के साथ प्रवेश करके ठाकुर साहब उसे उठा ले जाते हैं - दुलारने को, प्यार जताने को, उसका ताप हरने को!

पर शुरू-शुरू में ऐसा नहीं होता था - कोई दो साल तक ऐसा नहीं हुआ था। उन दिनों दूध की मक्खी नहीं था मैं, नौकर भी नहीं था ठाकुर साहब का। दोस्ती का रिश्ता था हमारा, और इरा हम

दोनों की उपभोग्या थी। वह विजित वस्तु थी और हम दोनों विजय के साझीदार! ठाकुर साहब के शब्दों में, इरा द्रौपदी थी दो पाण्डवों की - मैं अर्जुन था और ठाकुर साहब भीम! हमारा बराबर का हक़ था उस पर। तदनुसार ही, हम तीनों एक साथ बैठते थे, हँसते-बोलते थे, खाते और पीते थे - इरा परेशान हो जाती थी प्यार के दोतरफ़ा वारों से। संकोच और झिझक का नामोनिशान तक न था हमारे बीच - बस, जब आँखों को चुभने का अंदेशा होता था, तब मरकरी लाइट का बटन उठा कर नाइट लाइट का बटन दबा दिया जाता था।

लोग शायद थूकेंगे मुझ पर, यह वृत्तान्त सुन कर। ऐसे पति के साथ भला किसकी सहानुभूति होगी! लेकिन यदि पत्नी मिली ही इस शर्त पर हो, तो?

हाँ, मेरे विवाह की भी एक कहानी है - उतनी ही अनोखी, जितनी मेरी आज की ज़िन्दग़ी।

इरा उन दिनों दाल-मण्डी में बैठती थी। उसने अपनी माँ की गद्दी सम्भाली थी। लेकिन ठाकुर साहब की और मेरी नज़र उस पर तभी से थी, जब उसने गद्दी नहीं सम्भाली थी - 'बच्ची' थी! हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे इरा का 'नथ' उतरने की। हर एक-दो महीने पर याद दिलाते थे उसकी माँ को, और वह हमारी बेक़रारी की आग में घी डाल देती थी यह कह कर - "थोड़ा तो सब्र

करें, हुज़ूर! अभी भला वह किस लायक है!” और फिर, एक दिन जब उसने पूछ दिया था - “क्या नजराना मिलेगा, हुज़ूर?” तब ठाकुर साहब ने जहाँ पाँच सौ की बात कही थी, वहाँ मैंने अनायास ही एक हज़ार की घोषणा कर दी थी। मुझे ऐसा लगा था कि पाँच सौ कह कर ठाकुर साहब ने इरा के सौन्दर्य का अपमान किया है। पर बेला बाई को एक हज़ार की रक़म भी अपमानजनक ही लगी थी, उसने कहा था - “बस हुज़ूर? यही है जौहरी की परख? इतनी सस्ती ख़ूबसूरती के लिए ही बेक़रार हैं आप? बाँदी सौ जूतियाँ खाने को तैयार है, बन्दापरवर, अगर इरा का नथ पाँच हज़ार से कम में उतरे!” और, उसके बाद मुझमें और ठाकुर साहब में होड़ चल पड़ी थी। उन दिनों मैं भी कुछ कम न था - वकील बाप झूठ की कमाई का ढेर छोड़ गये थे और मैं दोनों हाथों से उसे लुटा रहा था। अन्ततः ठाकुर साहब ने सत्रह सौ इक्यावन पर पहुँच कर ब्रेक लगा दिया था और मैं बेला बाई के चढ़ाने पर, दो हज़ार पाँच सौ इक्यावन रुपये भेंट करके, इरा के नथ तक पहुँच गया था। ठाकुर साहब शुरू से ही व्यावहारिक आदमी रहे हैं - बयार देख कर पीठ ओड़ना जानते हैं। मेरी सफलता पर बधाई देते हुए उन्होंने कहा था - “यार, मैं तो तुम्हारी जीत भी अपनी ही समझता हूँ। किसी तीसरे साले की जीत नहीं हुई, इसकी मुझे बेहद ख़ुशी है!”

उँह, ठाकुर साहब पलंग के बोल्ट कसवा क्यों नहीं देते?

कितनी आवाज़ होती है! लेकिन उन्हें असुविधा भी क्या होती होगी बोल्टों के ढीलेपन से। मैं ही ध्यान हटा लेता हूँ उधर से - दीवार की तरफ़ मुँह कर लेता हूँ। कैसा अजीब-अजीब-सा होने लगता है दिल में।

इस दिल ने ही तो बर्बाद कर दिया मुझे। न दिल होता, न फेंकता फिरता, न फटेहाल बनता। इतने बड़े वकील का बेटा मैट्रिक से आगे न बढ़ पाया, इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा मेरा! पाँच साल तक पढ़ता रहा बनारस में, हज़ार रुपये से भी अधिक ख़र्च किये हर महीना, फिर भी इण्टर तक न कर सका। बाईजियों के चरण चाँपने से फ़ुर्सत मिलती, तब न किताब छूता - घुंघरुओं की झनकार दिमाग़ से उतरती, तब न किताबी बातें समातीं उसमें। बस, दिन में क्लास चला जाता, हाज़िरी लगवा देता - रात को मुझे कहाँ थी फ़ुर्सत! वी. आई. पी. (अत्यधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति) जो था दाल-मण्डी का! और, जो हाल होता है ऐसे वी. आई. पी. लोगों का, वही मेरा भी हुआ। मेरे कॉलेज-जीवन का वह चौथा वर्ष था, जब अपने इकलौते बेटे की तीरन्दाज़ी के कारण घुल-घुल कर जी रही विधवा माँ पूर्णतः घुल गयी - सदा के लिए चली गयी इस संसार से, और वह पाँचवे वर्ष का आरम्भ था, जब ख़ानदानी मकान की बिक्री से प्राप्त रक़म के एक अंश के बदले में मैंने इरा के नथ को हाथ लगाया था।

लेकिन एक बात है। इरा के प्रति मेरा लगाव हार्दिक था। उसका नथ उतारने के बाद मैं किसी और कोठे पर नहीं गया, और कहीं जाने की मेरी इच्छा ही नहीं हुई। मुझे उससे प्यार हो गया था - मैं उसी के साथ ज़िन्दग़ी बिता देना चाहता था। और-तो-और, ठाकुर साहब जो उसके पास जाते थे, वह भी मुझे अच्छा नहीं लगता था। वे उसे हाथ लगाते थे, तो मेरी आँखें कड़ुआने लगती थीं। पर मैं उन्हें रोक नहीं सकता था - वह एक वेश्या का कोठा था और ठाकुर साहब मेरे मित्र थे; सैंकड़ों ही सुन्दरियों को हमने एक साथ हाथ लगाया था; यही नहीं, दोनों को एक साथ कमरे में रहने दिया जाए, इसके लिए हम उन्हें अतिरिक्त धन देते थे। किसी के सौन्दर्य को एक साथ मिल कर नोचने-खसोटने में हमें एक अजीब ख़ुशी होती थी। पर इरा मात्र सुन्दरी ही तो नहीं थी, वह मेरी हृदयेश्वरी भी थी - एकमात्र हृदयेश्वरी। मैंने अपनी बची-ख़ुची सारी सम्पत्ति धीरे-धीरे उसे भेंट कर दी, ताकि शेष सबकी ओर से उसका मन फिर जाए - ठाकुर साहब की ओर से भी - और वह सम्पूर्णतः मेरी हो जाए, कोठा छोड़ कर घर बसा ले एक। और, मेरा वह प्रयास व्यर्थ नहीं गया - इरा के मन में उस जीवन के प्रति विराग उत्पन्न हुआ; सभ्य संसार में आने की - अपने घर की स्वामिनी और अपने बच्चों की माँ कहलाने की - कामना उसके अन्तर में जागी। पर पत्नी वह मेरे जैसे कंगाल-अप्रतिष्ठित की नहीं, ऐश्वर्यशाली

प्रतिष्ठित ठाकुर साहब की बनना चाहती थी।

मेरे सामने स्पष्ट हो गया - इरा मेरी पत्नी तो नहीं ही बनेगी, उसके दर्शन भी अधिक समय तक नहीं कर सकूँगा अब! कितनी गहरी पीड़ा हुई मुझे, कह नहीं सकता। आत्महत्या करने के अलावा कोई चारा नहीं रहा मेरे पास!

पर आत्महत्या करने की नौबत नहीं आयी। एक दिन ठाकुर साहब ने कहा - “मैंने सब ठीक कर लिया है। वह तुमसे विवाह कर लेगी।”

“पर वह तो आपसे विवाह करना चाहती है!” - मैंने शंका व्यक्त की।

“अरे दोस्त, मैं क्या करूँगा शादी! कोई तुम्हारी तरह छुट्टा-क्वाँरा हूँ मैं। बीवी है, जवान बच्चे हैं। तुम इन सब बातों की चिन्ता मत करो। सब ठीक हो जाएगा।” - ठाकुर साहब ने मुझे आश्वस्त किया।

“लेकिन मेरे साथ ग़रीबी की ज़िन्दग़ी कैसे बिताएगी वह - मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा!” - अपना संशय मैंने साफ़-साफ़ उनके सामने रख दिया।

“मेरे रहते तुम ग़रीबी की ज़िन्दग़ी क्यों बिताओगे भला? अपने ’लक्ष्मी धाम’ में रहना। ख़ाली करा दूँगा दो कमरों का एक फ़्लैट।”

"लेकिन उसका तो बहुत किराया है। कहाँ से दूँगा मैं?"

"अँह, निरे भोंदू हो तुम। भला तुमसे किराया लूँगा मैं? वह मकान जैसे मेरा है, वैसे ही तुम्हारा है, वैसे ही इरा का है। तुम निश्चिंत हो कर रहो। बस, अगले इतवार को हो जाएगी शादी - आर्यसमाज में!"

मेरी तो अक़्ल ग़ायब! अचानक यह सब क्या हो गया! ठाकुर साहब की मित्रपरायणता के आगे मेरा माथा झुक गया, भर्राये स्वर में बोला - "आपका यह एहसान कभी नहीं भूलूँगा मैं!"

"पागल!" - ठाकुर साहब ने मुस्कुराते हुए मेरी पीठ थपथपायी।

तभी एक दूसरी आशंका ने मुझे विचलित किया; मैंने पूछा - "लेकिन बेला बाई?"

"उँह, तुम छोड़ो यह सब चिन्ता! मैंने सब ठीक कर दिया है। एक तो बुढ़िया यों ही मर रही है, बीमार है। फिर, मीरा भी तो अब तैयार हो गयी है। उसकी नथ का सौदा मैंने दो-ढाई के बदले दस हज़ार में तय कर लिया है। बुढ़िया ख़ूब समझती है इसका मतलब! फिर यह भी मालूम है उसे कि हाक़िम-हुक्काम मेरे हाथ में हैं; चाहूँ तो बिना एक पैसा दिये उसे हाजत के अन्दर करा कर इरा को बाहर निकाल लूँ - मर्ज़ी के ख़िलाफ़ किसी से वेश्यावृत्ति नहीं करायी जा सकती। और आख़िरी बात, मेरे लठधरों के आगे वह चूँ

नहीं कर सकती।”

और, इस तरह, इरा मेरी विवाहिता पत्नी बन कर ’लक्ष्मी धाम’ के इस फ़्लैट में आ गयी। उसके प्रति अपनी प्रबल आसक्ति के कारण, इस ’पत्नीत्व’ का अर्थ समझते हुए भी, मैंने उसका पति बनने में आनन्द अनुभव किया - मैं उससे दूर नहीं रह सकता था। शुरू में उसका यह पत्नीत्व मुझे अधिक ख़ला भी नहीं - इरा और ठाकुर साहब, दोनों ने ही मुझसे बराबरी का बर्ताव किया। अपने ’दाम्पत्य’ जीवन में ठाकुर साहब की दख़लअन्दाज़ी को उनका उचित अधिकार मान मैंने अपने-आपसे समझौता किया। इरा के दो पति थे, जिनमें से एक मैं था।

उफ़्, ठाकुर साहब इतने निर्दयी क्यों हो जाते हैं! किस तरह कराह रही है इरा! पर क्या कर सकता हूँ मैं? उसे भी तो सुख मिलता है इसी में। हाँ, दुःख केवल मुझे होता है, वास्तविक छटपटाहट केवल मुझे होती है। इस पीड़ा से मौत मेरी आएगी, सिर्फ़ मेरी, और किसी की नहीं। इस समय कितनी तेज़ है मेरे दिल की धड़कन। मुझे निस्सन्देह हृदय रोग हो जाएगा। बच नहीं सकता मैं। किससे कहूँ अपनी यह व्यथा? कौन समझेगा इसे? उफ़्, बन्द कराओ भगवान्, बन्द कराओ यह लीला। मैं पागल हो जाऊँगा। हाँ, सीत्कार कुछ धीमी पड़ी ... विलुप्त हो रही है ... हो गयी। भगवान् कभी-कभी सुन लेता है मेरी, आदमी चाहे न सुने।

इरा को ही ले लें। उसने यदि सुनी होती मेरी बात, तो आज यह नौबत क्यों आती! रानी जब पैदा हुई थी, तभी मैंने उससे कहा था कि अब हमारी ज़िम्मेदारी बढ़ गयी है - हमें केवल अपनी नहीं, बच्चों की भी सोचनी चाहिए; उनके मान-अपमान और लोकप्रतिष्ठा का भी ध्यान रखना चाहिए। हमें चुपचाप बनारस छोड़ देना चाहिए। उस समय तक इरा का व्यवहार ठीक था मेरे प्रति - ठाकुर साहब के साथ-साथ मेरा भी ध्यान रखती थी वह। मुझे प्रेम से खिलाती-पिलाती थी - मेरी इच्छा-अनिच्छा को मूल्य देती थी। उस दिन उसने जवाब दिया था - "मैं भी चिन्तित हूँ इस बारे में। लेकिन फिर सोचती हूँ - सौ-सवा सौ में कैसे होगा गुज़ारा। नौकरी से नहीं चल पाएगा। इसलिए मेरा विचार है, यदि कुछ पूँजी इकट्ठी हो जाए हमारे पास, तो तुम कोई धन्धा कर लो। और, पूँजी के लिए ठाकुर को ऐंठना ही पड़ेगा - उसे छोड़ देना बेवकूफ़ी होगी।" उसका तर्क मेरी समझ में आ गया था। मैंने उससे सहमति जता दी थी। ठाकुर साहब की दो सौ रुपये की नौकरी भी कुछ महीने बाद मैंने केवल इसलिए स्वीकार कर ली थी कि मैंने समझा था, इरा की व्यूह रचना का ही एक अंग है यह भी!

पर उसके बाद भयंकर परिवर्तन आ गया दोनों में। इरा ने मुझसे सीधे मुँह बात करना छोड़ दिया - अपने स्पर्श के अधिकार तक से वंचित कर दिया मुझे। मैं उसका दास हो गया - वह स्वामिनी

बन गयी। हम तीनों का साथ बैठना भी बन्द हो गया। ठाकुर साहब अब जब भी आते, मुझे किसी काम से बाहर भेज देते। फिर, फ़्लैट के एक कमरे का दरवाज़ा बाहरी बरामदे पर ख़ुलता है, उसे सभी किरायेदारों को जता कर ठाकुर साहब ने अपने कब्ज़े में ले लिया और उस पर अपना ताला डाल दिया - उन्हें अपने 'निजी कार्यालय' के लिए उसकी ज़रूरत थी। काम करते-करते विश्राम के लिए उन्होंने एक पलंग भी उसमें डलवा लिया। यों, यह कार्यालय कभी-कभी दिन में भी ख़ुलता है और ठाकुर साहब यहाँ बैठ कर कुछ लिखा-पढ़ी करते हैं, पर तब इस कमरे और उस कमरे को जोड़नेवाला दरवाज़ा नहीं ख़ुलता है, उधर से बन्द रहता है - यदि ख़ुलता भी है, तो दो-चार मिनट के लिए, संवादों के आदान-प्रदान के लिए - ताकि लोगों को सन्देह न हो, हालाँकि असलियत की जानकारी भीतर-भीतर सबको है। पर रात को जब 'निजी कार्यालय' ख़ुलता है, तब निश्चय ही यह बीच का दरवाज़ा भी ख़ुलता है और पूरी रात ख़ुला रहता है - कभी-कभी तो, जैसा कि बता चुका हूँ, उठगाया भी नहीं जाता और उनकी सारी लीला मुझे कलेजे पर पत्थर रख कर देखनी पड़ती है। कितनी बड़ी परीक्षा देनी पड़ती है मुझे अपने धैर्य की - सहनशक्ति की!

आँ? इस कमरे में अचानक इतना उजाला कैसे आ गया? ओह, किवाड़ ख़ुल गये हवा के दबाव से। बगल के कमरे में फैल

रहा है दूधिया प्रकाश। लगता है, थक कर चूर हो गये थे दोनों - बत्ती बुझाने की भी सामर्थ्य नहीं रही थी उनमें। सामने ही पड़े हैं पलंग पर - नंग-धड़ंग। ठाकुर साहब की एक हथेली अब भी पड़ी है इरा के बायें वक्ष पर - और उनकी दायीं जाँघ दबी है इरा की दोनों जाँघों के बीच। कहाँ इरा की कोमल कंचन-काया और कहाँ ठाकुर साहब का काला-खुरदुरा भारी-भरकम शरीर। कैसी बेमेल लगती है यह जोड़ी! पर यह वासना क्यों जाग रही है मेरे मन में? क्यों इच्छा हो रही है कि उसी पलंग पर जा कर लेट जाऊँ इरा की दूसरी तरफ़ और उसका मुँह कर लूँ अपनी ओर? ईर्ष्या, भूख, दोनों ही। पर अंजाम? मारा जाऊँगा। ... न, मैं अपनी आँखें फेर लूँ। कितना निर्लज्ज हो जाता है मनुष्य भी! पर अभी यदि रानी जाग जाए, तो? क्या सोचेगी यह दृश्य देख कर? ... उफ़्! भयानक! किवाड़ उठगा ही दूँ। मैं बाप हूँ, मेरी कुछ ज़िम्मेदारी है।

किवाड़ उठगा दिये मैंने। अँधेरा फिर से व्याप गया इस कमरे में। पर अब रानी सुरक्षित है, राजू सुरक्षित है, मैं भी थोड़ा हल्का हूँ।

सवेरा होने ही वाला है अब। अज़ान सुनाई पड़ रही है। थोड़ी देर बाद ही चिड़ियाँ चीखने लगेंगी। फिर पूर्वी क्षितिज का मुँह पीड़ा से लाल हो उठेगा और सूरज जन्म लेगा। इरा भी चुपचाप उठ कर इस कमरे में आ जाएगी, लेट जाएगी रानी की बगल में। फिर,

बीच का दरवाज़ा बन्द होगा और तब बाहर ताला लगने की आवाज़ सुनाई पड़ेगी।

पर मैं? मैं क्या करूँ? चुपचाप उठ कर चला जाऊँ अभी ही? इरा अपनी राह छोड़ेगी नहीं और मैं उसकी राह पर चल नहीं पाऊँगा। पता नहीं, कौन-सी ठोकर प्राणान्तक बन जाए। हाँ, मैं उठूँ। और कोई उपाय नहीं है।

लेकिन रानी? राजू? उनका क्या हाल होगा? माँ से उनका नाता ही क्या है? मैं ही उनकी माँ भी हूँ और बाप भी। इरा की माँ बनने की कामना ज़रूर थी, पर वह बन न सकी - वेश्या ही रही।

फिर? ... फिर क्या करूँ मैं? मैं पति नहीं तो बाप तो हूँ। न सही मालूम कि वे मेरे बच्चे हैं या ठाकुर के, पर दुनिया तो मुझे ही उनका बाप कहेगी - वे स्वयं भी मुझे ही तो बाप मानते हैं!

ठीक है, आज रथ-यात्रा का मेला है। मैं उन्हें मेला दिखाने ले जाऊँगा और फिर ... फिर क्या? रथ चल पड़ेगा, यात्रा शुरू हो जाएगी।

क्या? इरा का क्या होगा? जब तक वह वेश्या बनी रहना चाहेगी, यहाँ रहेगी; और जब माँ बनना चाहेगी, चली आएगी मेरे पास। ये बच्चे मेरे हैं और इसलिए इनकी माँ भी केवल मेरी पत्नी होगी।

प्रेम परीक्षा

तीनों आत्माएँ उस दिव्य उद्यान में विश्रामार्थ रुक गयीं। तीनों देवदूत भी वहाँ के अनुपम सौन्दर्य का आत्मविभोर हो रसपान करने लगे।

कुछ क्षण उपरान्त एक देवदूत की तन्द्रा भंग हुई और वह बुदबुदाया - "ओह! कितना विलम्ब हो गया। एक तो, शरीर छोड़ने के बाद आत्माएँ पहले ही बहुत सारा समय इधर-उधर घूमने-फिरने में नष्ट कर चुकी हैं और अब मार्ग में यह उद्यान पड़ गया। ... धर्मराज से कहना ही पड़ेगा। यह उद्यान हम दूतों के मार्ग की एक विकट बाधा है। या तो हमारा मार्ग बदल दिया जाए, या फिर यह उद्यान ही यहाँ से हटा दिया जाए। ... " तभी उसका ध्यान अपने अधीनस्थ आत्माओं के वार्तालाप की ओर आकर्षित हुआ।

एक आत्मा कह रही थी - "मैं तो सन्तुष्ट हो गयी! अपने सेठजी के प्रेम का मुझे पूरा विश्वास हो गया! कितना रोये वे मेरे लिए - 'बोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टर्स' की मीटिंग छोड़ दी! वह बेशक़ीमती पलंग और बिछावन भी, जिस पर मैं लेटी थी, उन्होंने बात-की-बात में दान कर दिया। मेरे शरीर से आभूषण भी नहीं उतरने दिये उन्होंने। फिर ... ओह! ... कितने बहुमूल्य वस्त्र में लपेट कर वह

मेरा शव श्मशान ले गये! रुपये भी बहुत लुटाये शव-यात्रा में! मेरे नाम पर उनकी सारी कृपणता हवा हो गयी। मुझे स्वर्ग दिलवाने के लिए ही तो उन्होंने इतना ख़र्च किया - हज़ारों रुपये बात-की-बात में लुटा दिये। अफ़सोस! मुझे पहले नहीं मालूम हुआ कि वे मुझे इतना प्यार करते हैं! तब शायद ... " वह आगे न बोल पायी - उसका स्वर रुँध गया।

देवदूत आत्मा की बातें सुन कर मुस्कुरा पड़ा।

अब तक दूसरी आत्मा ने बोलना आरम्भ कर दिया था - "सचमुच बहन! तुम्हारे सेठजी ने जीवन-भर की कृपणता पल-भर में बिखेर कर रख दी। बहुत-सारे प्राणी तुम्हारा जय-घोष कर रहे होंगे - तुम्हारी शान्ति के लिए अन्तर्मन से प्रार्थना कर रहे होंगे। तुम्हें अवश्य-ही स्वर्ग मिलेगा। मेरे स्वामी ने भी कुछ कम नहीं किया। कितने परेशान हो उठे वे मेरे प्रस्थान की बात सुन कर। तुरन्त दौड़े आये। फिर, संवेदना व्यक्त करने के लिए आये लोगों से कितनी प्रशंसा की मेरी। लगता था, उनका हृदय फट जाएगा। शोकवश दफ़्तर भी नहीं गये, छुट्टी करवा दी। सारे कर्मचारी मेरी शव-यात्रा में शामिल हुए। चन्दन की लकड़ी से उन्होंने मेरा दाह-संस्कार सम्पन्न किया - शुद्ध घी ही तो एक मन डलवा दिया। उन्होंने अपना सारा जीवन अंग्रेज़ी ढंग से बिताया - रात-रात-भर क्लबों में सुरा-सुन्दरियों का सेवन किया; पर आज वे सिर मुँड़ाने और वैदिक रीति

से संस्कार कराने को तैयार हो गये। यह उनके प्रेम का ही तो प्रमाण है। सचमुच, मैंने कभी नहीं सोचा था कि वे मुझे इतना प्यार करते हैं, अन्यथा मैं उनके साथ विश्वासघात नहीं करती!" - कहते-कहते इस आत्मा का भी कंठ अवरुद्ध हो गया।

पहली आत्मा ने उसे ढाँढ़स बँधाया - "तुम व्यर्थ चिन्ता करती हो, बहन! ... विश्वासघात मैंने भी किया है और तुमने भी। पर इससे क्या होता है! हमने यदि चार पाप किये हैं, तो सौ पुण्य किये हैं। दीन-दुःखियों में जो धन बाँटा है, वह सब क्या व्यर्थ जाएगा? दरिद्र-कंगालों का आशीर्वाद तुम्हें भी निश्चय ही स्वर्ग ले जाएगा।"

देवदूत के अधरों पर पुनः एक कुटिल रेखा खिंच गयी।

कुछ क्षण शांति रही, फिर पहली आत्मा ने ही कहना आरम्भ किया - "चिन्ता तो इस बेचारी को देख कर होती है!" उसने तीसरी आत्मा की ओर संकेत किया - "इसने न तो दान-पुण्य ही किया और न पति का प्यार ही पाया। भूख और लांछनाओं ने इसे अवकाश भी कहाँ दिया कि मन्दिर जा कर कुछ दान-पुण्य कर सकती। फिर, इसे पति भी एक ही मिला। इसने शरीर त्यागा तो उसकी आँखों से आँसू तक न निकले। मूर्ख-निकम्मे की तरह चुपचाप शव पर सिर रखे बैठा रहा - न तो क्रियाकर्म की व्यवस्था की और न दान-पुण्य की। पास में पैसे नहीं थे, तो क्या हुआ - ऐसे

मौक़े पर कर्ज़ तो मिल ही जाता। पर उसे क्या? पत्नी को स्वर्ग भेजने की इच्छा होती, तब न! न-जाने क्या फल भुगतना पड़ेगा इसे! लड़के-बाले भी तो नहीं हैं, जो कुछ अर्पण दें - उद्धार करें।”

देवदूत ने मुस्कुरा कर तीसरी आत्मा की ओर देखा। वह गुमसुम बैठी थी - चिन्ता में निमग्न! पहली आत्मा की कोई बात भी शायद उसने न सुनी थी।

तभी अचानक देवदूत चमक पड़ा। बड़ी तेज़ी से एक प्रकाश-पिंड उठा आ रहा था। उद्यान में जमा असंख्य आत्माएँ और देवदूत उधर ताकने लगे। कुछ क्षणों में ही प्रकाश-पिंड पूर्वोक्त तीसरी आत्मा के पास आ कर रुक गया। तीसरी आत्मा हर्ष से विह्वल हो उठी - विक्षिप्त की भाँति उठ कर नवागंतुक आत्मा से लिपट गयी।

आत्माएँ तो आत्माएँ, देवदूतगण भी आश्चर्य-अवाक! बड़ा ही विलक्षण दृश्य था। ऐसा दृश्य पहले कभी किसी ने न देखा था। बिना देवदूत के अकेली आत्मा मृत्युलोक कैसे चली आयी - यह बात किसी की समझ में न आ रही थी।

तभी युगल आत्माओं के संयुक्त प्रकाश-पिंड के समक्ष एक प्रखर प्रकाश-पुंज प्रकट हुआ और इसके साथ ही सभी देवदूत नतमस्तक हो गये। सारी आत्माएँ और देवदूत हतप्रभ थे, किंकर्तव्यविमूढ़।

प्रकाश-पुंज धीरे-धीरे युगल आत्माओं के प्रकाश-पिंड की ओर बढ़ा और फिर उसमें एकाकार हो गया। सभी देवदूत और आत्माएँ अनिमेष देखती रहीं इस अभूतपूर्व दृश्य को, पर दृश्य बड़ा क्षणिक सिद्ध हुआ। दो पल भी न बीते होंगे कि प्रकाश-पुंज अन्तर्धान हो गया। धर्मराज दोनों आत्माओं को अपने में समेट कर प्रस्थान कर चुके थे!

आपको यह पुस्तक कैसी लगी?
नीचे दिए गये लिंक पर क्लिक करके सितारे दें-

उसने लिखा था